मनु का राजधर्म





लेखक—

डा० श्यामलाल पाण्डेय

एम० ए०, पी-एच० डी०

मुद्रक
भृगुराजभार्गव
नवज्योति प्रेस,
पानदरीबा, लखनऊ। फोन ३६४६

मूल्य सजिल्द पाँच रुपया
मूल्य अजिल्द चार रुपया

प्रकाशक
डा० श्यामलाल पाण्डेय
आर्यनगर
लखनऊ,

विषय-सूची

अध्याय १

राज्य का सावयव स्वरूप

विषय	पृष्ठ
सृष्टि-रचना और सावयव सिद्धान्त	२
राज्य का सावयव स्वरूप	३

अध्याय २

राजा की दैवी उत्पत्ति

मानवधर्मशास्त्र में राजधर्म	६
राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त	१०
मानवधर्मशास्त्र के दैवी सिद्धान्त की विशेषता	१५
मानवधर्मशास्त्र द्वारा प्रतिपादित दैवी सिद्धान्त तथा पाश्चात्य ... दैवी सिद्धान्त की तुलना	१७
राजा का स्वरूप	२०
(क) धर्म	२१
(ख) दण्ड	२१
(ग) दण्ड धारण करने का अधिकारी	२३
(घ) राजा का पद	२३
(ङ) राजा का परम कर्तव्य	२४
(च) ब्रह्म शक्ति और क्षात्र शक्ति का सामंजस्य ...	२५

अध्याय ३

मन्त्रिपरिषद्

मन्त्रिपरिषद् की आवश्यकता	२७
मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या	२६
मन्त्रिपरिषद् के निर्माण के सिद्धान्त	३१
(क) परम्परागत सिद्धान्त	३२
(ख) शास्त्रों का सम्यक ज्ञान	३३
(ग) शूरता	३४

विषय	पृष्ट
(घ) उद्देश्य -प्राप्ति की सामर्थ्य	३४
(ङ) उच्च कुल में जन्म	३५
(च) परीक्षा सिद्धान्त	३५
विभाग प्रथा	३६
मन्त्रणा के विषय	३८
मंत्रणा का स्थान	३९
मंत्रणा का समय	४०
मंत्रणा करने की प्रणाली	४०

अध्याय ४

न्याय-व्यवस्था

न्याय-व्यवस्था की आवश्यकता	४२
व्यवहार के मार्ग	४३
धर्मसभा	४४
सभासदों की योग्यता	४६
धर्मसभा में शिष्टाचार	५०
प्रतिभू रखने की प्रणाली	५०
अभियोगों के प्रस्तुत किए जाने का क्रम	५२
प्रमाण	५३
(अ) लिखित प्रमाण	५३
(इ) साक्षी	५६
मिथ्या साक्ष्य देने के अपराध में साक्षी को दण्ड ...	६१
(उ) भोग ...	६४
दिव्य प्रमाण ...	६५
व्यवहार अवलोकन कार्य में देश, काल, प्रचलन एव परम्पराओं आदि का महत्त्व ...	६७
व्यवहारों का पुनर्चिन्तन ...	७०

अध्याय ५

कोष

कोष-सञ्चय करने के सिद्धान्त ...	७३
(अ) अल्प-अल्प एवं शनैः शनैः धन-सञ्चय का सिद्धान्त ...	७३
(आ) प्रजा रक्षण का सिद्धान्त ...	७४
(थ) लाभ पर कर लगाये जाने का सिद्धान्त ...	७५

विषय				पृष्ट
(इ) अधिक कर लगाने का निषेध			...	७६
धन संग्रह करने के साधन			...	७८
(क) बलि			...	७८
(ख) शुल्क			...	८०
(ग) दण्ड			...	८४
(घ) कर			...	८८
(अ) सन्तरण कर			...	८८
(आ) पशु कर			...	९०
(इ) श्रम जीवी एवं शिल्पियों पर कर			...	९१
(ई) आकर कर			...	९१

अध्याय ६

पुर और राष्ट्र

राज्य के दो मुख्य विभाजन	...	...	...	९३
पुर	...	...	...	९३
राष्ट्र का संघठन		...	...	९६
ग्राम	...	...	...	९७
नगर	..	...	...	१०३

अध्याय ७

सेना

सेना के प्रकार	...	...	...	१०६
सेना के अधिकारी गण	...	...	...	१०७
उपाय	...	...	...	१०८
षाड्गुण्य मंत्र	...	...	...	११०
(क) सन्धि	...	...	...	११२
(ख) विग्रह	...	...	...	११६
(ग) यान	...	...	...	११८
(घ) आसन	...	...	...	११९
(ङ) संश्रय	...	..	...	११९
(च) द्वैध	...	...	...	१२१
मण्डल-सिद्धान्त	...	...	...	१२१
मण्डल की मूल प्रकृतियां	...	...		१२२
(क) शत्रु राज्य	...	...	...	१२२

विषय	पृष्ट
(ख) मित्र राज्य	१२३
(ग) मध्यम राज्य	१२३
(घ) उदासीन	१२३
लघुमण्डल	१२३
वृहद्मण्डल	१२४
काल	१२५
सेना का गमन	१२७
युद्ध-संचालन	१२८
कर्षण एवं उत्पीडन	१२६
धर्मयुद्ध के कतिपय नियम	१२६
युद्ध द्वारा प्राप्त शत्रु सामग्री के वितरण सम्बन्धी नियम	१३१
पराजित राजा के प्रति व्यवहार ..	१३२

—○—

प्रथम अध्याय

राज्य का सावयव स्वरूप

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओं के इतिहास में मनु का स्थान बहुत ऊँचा माना गया है। भारतीय परम्परा के अनुसार वह सर्व प्रथम विधि-प्रणेता (Law-giver) हैं। उनके द्वारा दी गयी व्यवस्थाओं को राजशास्त्र के लगभग सभी प्रमुख आचार्यों ने मुक्त कण्ठ से मान्यता दी है। इसी परम्परा के अनुसार प्राचीन भारतीय राजशास्त्र सरिता की विविध धाराओं में से एक प्रमुख धारा के प्रवर्तक मनु हैं। व्यास ने मनु को राजशास्त्र प्रणेता माना है और विशालाक्ष, महेन्द्र, शुक्राचार्य, भरद्वाज और गौरीशिरा आदि जगत विख्यात राजशास्त्र प्रणेताओं में इन्हें भी परिगणित किया है[1]। राजशास्त्र सम्बन्धी जिन सिद्धान्तों की स्थापना उनके द्वारा की गयी है वह सिद्धान्त उनके एक मात्र ग्रंथ मानवधर्मशास्त्र में उपलब्ध हैं ऐसा हिन्दू जनता का विश्वास है। इसलिए राज्य के स्वरूप के विषय में मनु के जो सिद्धान्त रहे होंगे उनको जानने के लिए मानवधर्मशास्त्र के पन्नों को ही पलटना उचित होगा। मानवधर्मशास्त्र में इस विषय की विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। केवल संकेतरूप में कुछ ऐसे उद्धरण मिलते हैं जिनके आधार पर ज्ञात होता है कि मानवधर्मशास्त्र के रचयिता रज्य के सावयव स्वरूप में आस्था रखते थे। राज्य के स्वरूप के अतिरिक्त सृष्टि रचना-क्रम में भी सावयव सिद्धान्त का आश्रय मानवधर्मशास्त्र में लिया गया है। इसलिए मानवधर्मशास्त्र में वर्णित राज्य के सावयव स्वरूप को समझने के लिए मानवधर्मशास्त्र में वर्णित सृष्टि रचना-क्रम के स्वरूप को विधिवत जान लेना आवश्यक होगा। इसी दृष्टि से यहाँ पर सर्व प्रथम इसी विषय का वर्णन नीचे दिया जाएगा।

१—विशालाक्षश्च भगवान्काव्यश्चैव महातापः।
सहस्त्राक्षो महेन्द्रश्च तथा प्रचेतसो मनुः॥
श्लोक २ अध्याय ५८ शा० पर्व॥
भरद्वाजश्च भगवांस्तथा गौरिशिरा मुनिः।
राजशास्त्रप्रणेतारो ब्रह्मण्यां ब्रह्मवादिनिः॥
श्लोक ३ अध्याय ५८ शा० पर्व॥

सृष्टि-रचना और सावयव सिद्धान्त—मानवधर्मशास्त्र के प्रारम्भ में, सृष्टि रचना किस प्रकार हुई, इस विषय का वर्णन है। इस वर्णन के अनुसार सृष्टि रचना के निमित्त विराट पुरुष की कल्पना की गयी है। मनु का मत है कि प्रारम्भ में सात पुरुषों के संयोग से विराट पुरुष की उत्पत्ति हुई है। यह सात पुरुष अहंकार, महत्तत्व और आकाश आदि पाँच तत्व हैं। यह बड़े सामर्थ्यवान माने गए हैं। इन्ही सात पुरुषों की सूक्ष्म मूर्त्तमात्राओं से अविनाशी से नाशवान जगत की उत्पत्ति हुई।[1] इसी जगत को मनीषी गण ने अविनाशी भगवान का मूर्त्तमान रूप (विराट पुरुष) माना है।[2] इस प्रकार जगत के प्राणियों के असख्य मुख मिलकर उस विराट पुरुष का मुख, जगत के प्राणियों के असंख्य बाहुओं का समावेश उस विराट पुरुष की दोनों बाहुओं में माना गया है। इसी प्रकार जगत के प्राणियों के अन्य अवयवों का समावेश उस विराट पुरुष के तत्सम्बन्धी अवयवों में कल्पना की गयी है। इस दृष्टि से जगत एक अवयवी है जिसका निर्माण अवयवों के संयोग से हुआ। इस अवयवी में यदि एक भी अवयव का अभाव होगा तो वह विराट पुरुष अपूर्ण माना जाएगा।

इस विराट पुरुष से नर और नारी जगत का निर्माण किस प्रकार हुआ इस विषय का वर्णन करते हुए मनु ने इस प्रकार व्यवस्था दी है—उस विराट पुरुष ने अपने शरीर के दो भाग किए। उसके अर्ध भाग से नर और अवशेष अर्ध भाग से नारी जगत की उत्पत्ति हुई।[3] इसी प्रसंग में मनु यह भी बतलाते हैं कि उस विराट पुरुष ने लोकों की वृद्धि (कल्याण) के लिए अपने मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरु से वैश्य और पाद से शूद्र की उत्पत्ति की है।[4]

१—तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम्
सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः संभवत्यव्ययाद्व्ययम् ॥
श्लोक १९ अ० १ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्तिमनीषिणः ॥
श्लोक १७ अ० १ मानवधर्मशास्त्र ॥

३—द्विधा कृत्वात्मनोदेहमर्धेन पुरुषोऽभवत ।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥
श्लोक ३२ अ० १ मानवधर्मशास्त्र ॥

४—लोकानां तु विवृद्धयर्थं मुखबाहूरुपादतः ।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत् ॥
श्लोक ३१ अ० १ मानवधर्मशास्त्र ॥

इस प्रकार मानवधर्मशास्त्र में समस्त जगत को विराट पुरुष के अंगों (अवयवों) से उत्पन्न हुआ मान कर इस सिद्धान्त की स्थापना की गयी है कि मानवधर्मशास्त्र में वर्णित सृष्टि-रचना-क्रम में सावयव सिद्धान्त का आश्रय लिया गया है और इस प्रकार सृष्टि के सावयव स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है।

राज्य का सावयव स्वरूप—मनु ने जिस प्रकार जगत का स्वरूप सावयव माना है उसी प्रकार उन्होंने राज्य के स्वरूप को भी सावयव ही माना है। वह राज्य को एक अवयवी मानते हैं। यह अवयवी सात अवयवों (अंगों) के संयोग से निर्मित माना गया है। इसीलिए वह राज्य को सप्तात्मक अथवा सप्तांग राज्य के नाम से सम्बोधित करते है। राज्य के यह सात अंग अथवा अवयव स्वामी, अमात्य, सुहृद्, पुर, राष्ट्र, कोश और दण्ड (सेना) बतलाए गये हैं।[1] मनु का ऐसा मत है कि यह सात अवयव परस्पर एक दूसरे के सहारे राज्य के अस्तित्व को उसी पकार स्थिर रखते हैं जैसे कि तीन दण्डे एक दूसरे के सहारे पर खड़े रहकर त्रिदण्ड रूप आकृति के अस्तित्व को पृथ्वी तल पर स्थिर रखने में समर्थ होते है।[2] मनु राज्य के इन सातो अंगों में किसी को भी एक दूसरे से छोटा या बड़ा नहीं मानते हैं।[3] उनके मतानुसार राज्य का प्रत्येक अंग अपने-अपने स्थान पर बड़ा एवं महत्त्वपूर्ण होता है। जिस अंग से जो कार्य सिद्ध होता है वह अंग उस दृष्टि से अन्य अंगों की अपेक्षा अपने क्षेत्र में श्रेष्ठ माना गया है।

मानवधर्मशास्त्र के उपर्युक्त वर्णन के आधार पर यह स्पष्ट विदित होता है कि मनु ने राज्य का सावयव स्वरूप माना है। परन्तु इस विषय में मानवधर्मशास्त्र में जो वर्णन प्राप्त है उसके आधार पर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इस सिद्धान्त के विषय में मनु का वास्तविक मत क्या रहा होगा। इस सिद्धान्त के विषय में मानवधर्मशास्त्र में जो प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध है वह अत्यन्त अल्प है। इस अल्प सामग्री के आधार पर

१—स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा।
सप्तप्रकृतयोह्येताः सप्तागं राज्यमुच्यते॥
श्लोक २९४ अ० ९ मानवधर्मशास्त्र॥

२—सप्तांगस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत्॥
श्लोक २९६ अ० ९ मानवधर्मशास्त्र॥

३—अन्योन्यगुणवैशेष्यान्न किञ्चिदतिरिच्यते॥
श्लोक २९६ अ० ९ मानवधर्मशास्त्र॥

केवल इतना कहा जा सकता है कि मनु राज्य के सावयव स्वरूप से परिचित थे और इस सिद्धांत का आश्रय उन्होंने मानवधर्मशास्त्र में राज्य के स्वरूप के वर्णन के प्रसंग में लिया है। इसलिए मनु द्वारा प्रतिपादित राज्य के सावयव स्वरूप के सिद्धांत की तुलना आधुनिक काल के तत्ववेत्ताओं के द्वारा प्रतिपादित तत्सम्बन्धी सिद्धांत से नहीं की जा सकती और इसीलिए उन दोनों के मध्य इस विषय में समानता अथवा असमानता का निरूपण नहीं किया जा सकता।

प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इस सिद्धांत के चिन्ह आर्यों के प्राचीनतम साहित्य में भी पाए जाते हैं। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में इस जगत की उत्पत्ति के विषय में कुछ प्रकाश डाला गया है। इस प्रसंग में समस्त जगत समष्टि रूप में एक पुरुष माना गया है जिस को यहाँ विराट पुरुष के नाम से सम्बोधित किया गया है। उस विराट पुरुष के विभिन्न अवयव ही सृष्टि के अनेक रूपों में प्रकट हुए माने गये हैं। महाप्रलय के समय समस्त व्यक्त जगत उस विराट पुरुष में ही लय हो जाता है। इस प्रसंग में ऋग्वेद की जो ऋचा दी गयी है उस में उस विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, उरू से वैश्य और पादों से शूद्र की उत्पत्ति की कल्पना की गयी है।[१] इस प्रकार इस ऋचा में बीज रूप में इस सिद्धांत की ओर संकेत मिलता है।

यजुर्वेद के पुरुषसूक्त में सृष्टि रचना का जो क्रम दिया हुआ है वह भी ऋग्वेद में वर्णित उपर्युक्त सिद्धांत की पुष्टि करता है।[२] इसके अतिरिक्त यजुर्वेद में कुछ ऐसी ऋचाएँ भी हैं जो राज्य के सावयव स्वरूप के सिद्धांत की ओर स्पष्ट संकेत करती हैं। यजुर्वेद के बीसवें अध्याय की एक ऋचा में राज्य का वर्णन पुरुष रूप में किया गया है। यहाँ राजा को उस पुरुष का प्राण माना गया है।[३] इसी प्रसंग में एक दूसरी ऋचा में इस प्रकार वर्णन

१—ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो ऽजायत ॥
मंत्र १२ सूक्त ९० मंडल १० ऋग्वेद ॥

२—ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो ऽजायत ॥
मंत्र ११ अध्याय ३१ यजुर्वेद ॥
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥
मंत्र १२ अध्याय ३१ यजुर्वेद ॥

३—राजा मे प्राणो अमृतं सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम् ॥
मंत्र ५ अ० २० यजुर्वेद ॥

किया गया है--मेरी (विराट पुरुष की) पीठ राष्ट्र है, उदर, कन्धे, ग्रीवा, कटिप्रदेश, जंघा, गट्टे और घुटने मेरे यह सब अंग मेरी प्रजा है।[1] इस प्रकार यजुर्वेद में भी इस सिद्धांत की पुष्टि हेतु कुछ संकेत मिलते हैं। परन्तु यह भी संकेत मात्र ही है। इसलिए इन संकेतों के आधार पर राज्य के सावयव सिद्धांत का स्पष्ट रूप स्थिर नहीं किया जा सकता। वैदिक साहित्य में सप्तात्मक राज्य की कल्पना के प्रमाण नहीं मिलते।

महाभारत में सप्तांग राज्य की कल्पना उसी रूप में की गयी है जैसी कि मानवधर्मशास्त्र में प्राप्त है। महाभारत में भी राज्य के सात अंग माने गये हैं। राज्य के यह सात अंग आत्मा, अमात्य, कोश, दण्ड, मित्र, जनपद और पुर बतलाये गये हैं।[2] महाभारत के रचयिता भी, इस प्रकार, राज्य के सावयव स्वरूप के सिद्धांत की पुष्टि मनु की भांति ही करते है। कौटिल्य ने भी राज्य का स्वरूप सप्तांग माना है। उन्होंने अर्थशास्त्र में राज्य के इन सात अंगों को स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड और मित्र माना है। राज्य के इन सात अंगों को वह राज्य की सात प्रकृतियाँ मानते हैं।[3] कौटिल्य राज्य की इन प्रकृतियों को अवयव कह कर सम्बोधित करते हैं।[4] इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि कौटिल्य राज्य को एक ऐसा अवयवी मानते थे जिसका निर्माण सात अवयवों के संयोग से माना गया है। इसलिये इस आधार पर यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि कौटिल्य भी मनु की भाँति राज्य के सावयव स्वरूप के सिद्धांत में आस्था रखते थे। शुक्रनीति में भी राज्य के सावयव स्वरूप के सिद्धांत का समर्थन कियागया है। शुक्रनीति में राज्य को सप्तांग राज्य के नाम से सम्बोधित करते हुए ऐसा वर्णन किया गया है कि स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोश, दुर्ग, राष्ट्र और

१—पृष्टीर्मे राष्ट्रमुदरं सौग्रीवाश्च श्रोणी।
ऊरू अरत्नी जानुनी विशो मे ऽङ्गानि सर्वतः॥
मंत्र ८ अ० २० यजुर्वेद॥

२—आत्माऽमात्याश्च कोशश्च दण्डो मित्राणि चैव हि॥
तथा जनपदाश्चैव पुरं च कुरुनन्दन।
एतत्सप्तात्मकं राज्यं परिपाल्यं प्रयत्नतः॥
श्लोक ६५ अ० ६९ शा० पर्व०॥

३—स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृतयः॥
वार्ता १ अ० १ अधि०६ अर्थशास्त्र॥

४—प्रकृत्यवयवानां तु व्यसनस्य विशेषतः॥
श्लोक ६६ अ० १ अधि० ८ अर्थशास्त्र॥

बल, यह राज्य के सात अंग है।[१] इनमें राजा (स्वामी) मस्तक, अमात्य राज्य रूपी पुरुष के नेत्र, सुहृद् कान, कोश मुख, दुर्ग हाथ, राष्ट्र पाद, और बल उस पुरुष का मन माना गया है।[२] इस प्रकार शुक्र ने शुक्रनीति में राज्य की कल्पना पुरुष रूप में की है। शुक्रनीति के एक प्रसंग मे राज्य की कल्पना वृक्ष रूप मे करके राज्य को अवयवी माना है। इस प्रसंग में ऐसा वर्णन किया गया है कि राज्य एक वृक्ष है जिसका मूल राजा है। मंत्री उस वृक्ष का स्कन्ध, सेनापति शाखा, सेना पल्लव और कुसुम, प्रजा फल, और भूभाग बीज बतलाया है।[३] इस प्रकार शुक्रनीति के रचयिता भी राज्य के सावयव स्वरूप के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। वृहस्पतिस्मृति में भी राज्य को सप्त प्रकृति युक्त माना है।[४] इसी प्रकार अन्य स्मृतियों में भी राज्य का वर्णन सप्तात्मक या सप्तांग रूप में किया गया है। पुराणों में भी राज्य के सप्तात्मक या सप्तांग स्वरूप की चरचा की गयी है। मार्कण्डेय पुराण में एक प्रसंग में नगर राज्य (City State) के वर्णन में नगर राज्य की समता शरीर से की गयी है। प्रसंग इस प्रकार है--विपुलस्वान् मुनि के सुकृष और तुम्बुरु नाम के दो पुत्र थे। सुकृष के पुत्र, जो कि पिता के श्राप से पक्षी हो गये थे अपने पिता से राज्य की कल्पना मनुष्य शरीर से करके इस प्रकार वर्णन करते है--प्रज्ञारूपी प्राकार से वेष्टित यह देहरूपी नगरी वर्तमान रहती है। अस्थि उस नगरी का स्तम्भ है। वह नगरी (शरीर) चर्मरूपी भित्ति के द्वारा अत्यन्त रुद्ध और मांस-शोणितरूपी कीचड़ से लिसी नसें उसको चारों ओर से घेरे हुए हैं। उस पुरी के बहुत

१—स्वाम्यमात्यसुहृत्कोश राष्ट्रदुर्ग बलानि च।
सप्तांगमुच्यते राज्यं॥

श्लोक ६१ अ० १ शुक्रनीति॥

२—××××तत्र मूर्धानृपः स्मृतः॥
दृगमात्या सुहृच्छ्रोत्रं मुखं कोशो बलं मनः।
हस्तौ पादौ दुर्गराष्ट्रौ राज्यांगानिस्मृतानि हि॥

श्लोक ६१-६२ अ० १शुक्रनीति॥

३—राज्यवृक्षस्य नृपतिर्मूलं स्कन्धाश्च मंत्रिणः॥

श्लोक १२५७ अ० ४ शुक्रनीति॥

शाखाः सेनाधिपाः सेनाः पल्लवाः कुसुमानि च।
प्रजाः फलानि भूभागा बीजभूमिः प्रकल्पिता॥

श्लोक १२५८ अ० ४ शुक्र॥

४—सप्तप्रकृतिकं यत्तु विजिगीषोररेश्च यत्।
चतुर्दशकमेवेदं मण्डलं परिचक्षते॥

श्लोक २३ काण्ड १ वृहस्पतिस्मृति॥

बड़े नौ द्वार हैं जिन में चैतन्यरूपी पुरुष राज करता है। मन और बुद्धि उसके दो मंत्री हैं। वह भी परस्पर विरोधी हैं। काम, क्रोध, लोभ और मोह नामक इस राजा के चार पुत्र हैं जो राजा के विनाश करने की सदैव चेष्टा करते रहते हैं।[1] कामन्दक ने भी अपने कामन्दकीय नीतिसार नाम के ग्रन्थ में राज्य का सप्तांग स्वरूप माना है। उन्होंने भी राज्य के सात अंगों को स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश, बल, और सुहृद् के नाम से सम्बोधित कर सप्तांग राज्य का वर्णन किया है।[2]

इस प्रकार प्राचीन भारत के साहित्य में राज्य के सावयव स्वरूप (Organic nature of the State) की कल्पना के प्रमाण संकेत रूप में है। प्राचीन भारत के लगभग सभी राजशास्त्र प्रणेताओं ने राज्य का सप्तांग रूप स्थिर किया है। उन्होंने इन अंगों की उत्तमता पर ही राज्य

१—प्रज्ञाप्राकार संयुक्तमस्थिस्थूणं परं महत्।
चर्मभित्तिमहारोध मांसशोणितलेपनम्॥

श्लोक ५६ अ० ३ मार्कण्डेय पुराण॥

नवद्वारं महायासं सर्वतः स्नायुवेष्टितम्।
नृपश्च पुरुषस्तत्र चेतनावानवस्थितः॥

श्लोक ६० अ० ३ मार्कण्डेय पुराण॥

मंत्रिणौ तस्य बुद्धिश्चैवाविरोधिनौ।
यतेते वैरनाशाय तावुभावितरेतरम्॥

श्लोक ६१ अ० ३ मारकण्डेय पुराण॥

नृपस्य तस्य चत्वारो नाशमिच्छन्तिविद्विषः।
कामः क्रोधस्तथा लोभोमोहश्चान्यस्तथारिपुः॥

श्लोक ६२ अ० ३ मार्कण्डेय पुराण॥

यदा तु नृपतिस्तानितराण्यावृत्यतिष्ठति।
सदा सुस्थवलश्चैवनिरातंकश्चजायते॥

श्लोक ६३ अ० ३ मार्कण्डेय पुराण॥

२—स्वाम्यमात्यश्चराष्ट्रंच दुर्गं कोशोबलं सुहृत्।
एतावदुच्यते राज्यं सत्वबुद्धिव्यपाश्रयः॥

श्लोक १६ सर्ग १ कामन्दकीय नीतिसार॥

की उत्तमता निर्भर है, ऐसा माना है। उनके मतानुसार, यदि इन अंगों में से एक भी अग विकारग्रस्त हो जाएगा तो सम्पूर्ण राज्य भी विकृत अवस्था को प्राप्त हो जाएगा। अतः, इन अंगों की इन के स्वाभाविक रूप में रखने के लिए अनेक उपाय एवं साधनोंका विशद वर्णन राजनीतिपरक ग्रंथों में सर्वत्र प्राप्त है।

उपर्युक्त वर्णित प्रामाणिक सामग्री के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन भारत में राजनीतिक क्षेत्र में राज्य के सावयव स्वरूप को भी स्थिर किया गया था। इस सिद्धान्त का समर्थन मानवधर्मशास्त्र में भी किया गया है।

द्वितीय अध्याय

राजा की दैवी उत्पत्ति

मानवधर्मशास्त्र में राजधर्म—हिन्दू धर्म शास्त्रों में मानवधर्मशास्त्र का स्थान सर्वोच्च माना जाता है। धर्मशास्त्र का उद्देश्य मनुष्य के विभिन्न धर्मों की व्याख्या कर मनुष्य मात्र को इस लोक और परलोक दोनों में सुख और शान्ति का पथ प्रदर्शन करना है। मनुष्य के इन विभिन्न धर्मों में राजधर्म का भी प्रमुख स्थान माना गया है। इसी लिए हिन्दू धर्म शास्त्रों में जहाँ मनुष्य के विविध धर्मों की व्याख्या की गयी है वहाँ राजधर्म को भी उचित स्थान दिया गया है। मानवधर्मशास्त्र में राजधर्म विषयक सामग्री सम्पूर्ण ग्रन्थ में यत्र-तत्र पायी जाने के साथ ही एक सम्पूर्ण अध्याय राजधर्म पर ही अवलम्बित है। इस अध्याय में राजा की उत्पत्ति, राजा के धर्म और राजा की परम सिद्धि का वर्णन दिया गया है। इस विषय में मानवधर्मशात्र में इस प्रकार वर्णन किया गया है—जिस प्रकार के आचरण वाला राजा होना चाहिए उसके धर्मो और उस की उत्पत्ति एवं उसके परम धेय के विषय में आगे वर्णन करता हूँ। इस प्रकार मानवधर्मशास्त्र में राजा की उत्पत्ति, उसके आचरण, उसके परम ध्येय और उसके विभिन्न धर्मो की व्याख्या की गयी है। इस लिए राजशास्त्र के विद्यार्थी के लिए इन विषयों से सम्बन्धित प्रामाणिक सामग्री को एकत्र कर उस का वर्गीकरण करना और फिर उस का विश्लेषण कर राजशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों की खोज करना है। मानव-धर्मशास्त्र में इस विषय की जो सामग्री उपलब्ध है उसमें राजा की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों की स्थापना करने के लिए भी कुछ प्रामाणिक सामग्री है यद्यपि यह सामग्री अल्प एवं संकीर्ण है। परन्तु इस अल्प एवं संकीर्ण सामग्री के विधिवत अध्ययन करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि मानवधर्मशास्त्र में राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे केवल एक सिद्धान्त की ओर संकेत किया गया है और वह है राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त।

१—राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः।
संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा॥
श्लोक १ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त—राजा की उत्पत्ति के विषय में मानवधर्म शास्त्र में ऐसा वर्णन उपलब्ध है—ईश्वर ने इस समस्त संसार की रक्षा के निमित्त इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर की शाश्वत मात्राओं (सारभूत अंशो) को निकाल कर राजा का सृजन किया। [1] मानवधर्मशास्त्र के उपर्युक्त वर्णन के आधार पर ऐसा स्पष्ट विदित होता है कि मानवधर्मशास्त्र में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। इतना ही नहीं वरन यह उद्धरण राजा को देवों से भी ऊँचा स्थान देता है क्योंकि इस वर्णन के अनुसार इन्द्र, वायु, यम आदि आठ प्रधान देवों के विशिष्ट गुणों को संग्रहीत कर राजा में उन की स्थापना की गयी है। इस प्रकार राजा इन आठ प्रधान देवों के सार भूत मात्राओं को धारण करने के कारण इन आठ प्रधान देवों में से प्रत्येक से बड़ा माना जाएगा। इस प्रकार मानवधर्मशास्त्र में राजा को विशिष्ट देव का पद दिया गया है।

मानवधर्मशास्त्र मे, इसी लिए, राजा का पद अत्यन्त पुनीत माना गया है। इस पद पर जो कोई व्यक्ति आसीन किया जाता है वह परम देवता माना जाता है। इसी नियम के अनुसार मानवधर्मशास्त्र में ऐसा आदेश किया गया है कि राजा चाहे बालक ही क्यों न हो परन्तु यह समझ कर कि वह मनुष्य है, उसका अपमान नहीं करना चाहिए क्योंकि राजा मनुष्य रूप में एक महान देवता पृथ्वी तल पर विचरता है।[2] ऐसे राजा का अपमान करना परमदेवता का अपमान माना जाएगा। मानवधर्मशास्त्र में राजा के विषय में कहे गए इन वाक्यों के पढ़ लेने के उपरान्त इस विषय का लेश-मात्र भी सन्देह नहीं रह जाता कि मानवधर्मशास्त्र में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।

परन्तु यह कहना कि राजा की दैवी उत्पत्ति की विचारधारा का उद्गम स्थान मानवधर्मशास्त्र ही है, भयंकर भूल होगी। इस सिद्धान्त के चिन्ह

१—इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥
श्लोक ४ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः॥
श्लोक ३ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

२—बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥
श्लोक ८ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

प्राचीनतम ग्रन्थों में पाए जाते हैं। इन ग्रन्थों में राजा की समता इन्द्र, वरुण, विष्णु आदि देवों से की गयी है, उसे इन्हीं नामों से सम्बोधित किया गया है। ऋग्वेद की ऋचाओं में राजा को वरुण और यम के नाम से सम्बोधित किया गया है।[१] यजुर्वेद में भी इसी प्रकार राजा को यम, कुवेर, वरुण और इन्द्रादि देवों के रूप में आह्वान किया गया है। यजुर्वेद के नवें अध्याय के उन्तालीसवें मंत्र में राजा के द्वारा प्राप्त किए जाने वाले विशेष गुणों का दिग्दर्शन कराया गया है। वह इस प्रकार है--(हे राजन्) सविता तुझे आज्ञाएँ प्रचारित करने के लिए, अग्नि तुझे गृहस्थों की रक्षा के लिए, सोम तुझे वनस्पतियों की रक्षा के निमित्ति, वृहस्पति तुझमें वाणी को, इन्द्र ज्येष्ठता को, रुद्र पशु रक्षा की शक्ति को, मित्र सत्य की रक्षा के निमित्त और वरुण धर्म रक्षा के निमित्त अपनी शक्ति प्रदान करें।[२] इस वर्णन से यह तात्पर्य है कि राजा सविता, अग्नि, सोम, वृहस्पति, इन्द्र, रुद्र, मित्र और वरुण की शक्तियों को प्राप्त हो, इस विषय की प्रार्थना नूतन राजा के निमित्त पुरोहित उसके राज्याभिषेक के अवसर पर करता था। इन शक्तियों को प्राप्त कर वह राजपद पर आरूढ़ होता था। यजुर्वेद में इसी प्रसंग में दूसरे स्थल पर राजा को वरुण नाम से सम्बोधित करते हुए कहा है कि सम्राट इन्द्र होता है और राजा यम[३]। हे राजन् तू इन्द्र का वज्र है, तू ही मित्र और वरुण है।[४] तू ही सविता है। तू वरुण है, तू इन्द्र है, तू रुद्र है, तू इन्द्र का वज्र है। तू मेरी रक्षा कर[५]। इस प्रकार यजुर्वेद में भी राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के चिन्ह प्राप्त हैं।

१—राजा वरुणो समोक्तु ।। मंत्र १२ सूक्त २४ मण्डल १ ऋग्वेद ।।
राजा वरुणः ।। मंत्र १३ सूक्त २४ मण्डल १ ऋग्वेद ।।
राजा वरुणः ।। मंत्र ७ सूक्त २४ मण्डल १ ऋग्वेद ।।
त्वग्ने राजा वरुणो धृतवृतस्त्वं ।। मंत्र ४ सूक्त १ मण्डल २ ऋग्वेद

२—सविता त्वा सवनागं सुवतामग्निर्गृहपतीनागं सोमो वनस्पतीनाम् । वृहस्पतिर्वाचऽइन्द्रो ज्यैष्ठाय रुद्रः पशुभ्यो मित्रः सत्यो वरुणोधर्मपतीनाम् ।। मंत्र ३९ अ० ९ यजुर्वेद ।।

३—इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा ।। मंत्र ३७ अ० ८ यजुर्वेद ।।

४—इन्द्रस्य वज्रोऽसि मित्रावरुणयोस्त्वा ।। मंत्र २१ अ०१० यजुर्वेद ।।

५—ब्रह्मासि सवितासि सत्यप्रसवो वरुणोऽसि सत्यौजा इन्द्रोऽसि वशौजा रुद्रोऽसि सुशेवः । × × × वज्रोऽसि तेन मे रध्य ।।
मंत्र २८ अ० १० यजुर्वेद ।।

अथर्ववेद में भी राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के चिन्ह प्राप्त हैं। राजा को, अथर्ववेद में, इन्द्र, सोम, वरुण, मित्र, यम, सूर्य आदि देवों का अंश माना है। [1] इसी वेद में यह बतलाया गया है कि राजपद विष्णुपद होता है। "तू विष्णुपद पर आसीन है"। इस सूक्त में राजा को विष्णुपद पर प्रतिष्ठित किया गया है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ, दिशा, आशा, ऋक्, यज्ञ, औषधि, आपः, कृषि और प्राण, इन ग्यारह पदार्थों से उसको उत्पन्न करके क्रम से उसमें अग्नि, वायु, सूर्य, मन, वात, साम, ब्रह्म, सोम, वरुण, अन्न और पुरुष इनके तेज से तेजस्वी किया जाता है। नूतन राजा प्रतिष्ठित होकर उक्त ग्यारहों तेजों को धारण कर तेजस्वी बन जाता है। [2]

इस प्रकार ऋग्, यजुः और अथर्व तीनो वेदों में राजा की उत्पत्ति के निमित्त देवांशों को संग्रहीत कर उनके द्वारा राजा का निर्माण किए जाने का प्रतिपादन किया गया है।

राजा की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का समर्थन ब्राह्मण साहित्य में भी किया गया है। इन्द्र को राजपद इसी सिद्धान्त के अनुसार प्राप्त हुआ था ऐसा वर्णन तैत्तिरीय ब्राह्मण में उपलब्ध है। इस ब्रह्मण ग्रन्थ में यह स्पष्ट बतलाया गया हैं कि इन्द्र देवों में सबसे छोटा था। परन्तु उसने राजपद पाने के निमित्त प्रजापति से उसके तेज प्राप्ति की याचना की थी जिसके फलस्वरूप प्रजापति ने इन्द्र को अपना तेज प्रदान कर दिया। इस तेज को प्राप्त करने के उपरान्त इन्द्र देवों का राजा बन गया। तैत्तिरीय ब्रह्मण में वर्णित यह घटना इस सिद्धान्त की पुष्टि करती है। [3]

१—इन्द्रस्य भाग स्थ ।। सोमस्यभागस्थ ।। वरुणस्य भागस्थ ।। मित्र वरुणयोर्भाग स्थ ।। यमस्य भाग स्थ ।। पितॄणां भाग स्थ ।। देवस्य सवितुर्भाग स्थ ।। मंत्र ८ से १४ तक, सूक्त ५ का० १० अथर्ववेद ।।

२—विष्णोः क्रमोऽसि × × ।। मंत्र २५ सूक्त ५ का० १० अथर्ववेद ।।

३—प्रजापतिरिन्द्र सृजतानुजावरं देवान् । तं प्राहिणोत । परेहि । एतेषां देवानामधिपतिरेधीति × × × अथ । इदंतर्हि प्रजापतौ हर आसीत । यदस्मिन्नादित्ये । तदेनमब्रवीत । एन्मे प्रयच्छ । अथाहमेतेषां देवानामधिपति भविष्यामीति × × × अतो व इन्द्रो देवानामधिपतिरभवत ।।

वार्ता १-२ अनु० १० अ० २ अष्ट० २ तैत्तिरीय ब्राह्मण ।।

शतपथ ब्राह्मण भी इस सिद्धान्त की स्थापना करता है कि राजा के निर्माण हेतु प्रजापति के तेज की प्राप्ति की आवश्यकता पड़ती है। राज्याभिषेक के हो जाने के उपरान्त मनुष्य (नूतन राजा) देवत्व को प्राप्त हो जाता है और फिर राजा भी एक प्रधान देवता हो जाता है। शतपथ ब्राह्मण में यह स्पष्ट कहा गया है कि जिस व्यक्ति का राज्याभिषेक होता है वह होतृ (Sacrificer) और विष्णु दोनों एक ही साथ होता है। शतपथ ब्राह्मण में राजा को प्रजापति का प्रतिनिधि इस भूतल पर माना गया है।[१]

रामायण और महाभारत दोनों ग्रन्थों में भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। वाल्मीकीय रामायण मे ऐसा स्पष्ट वर्णन प्राप्त है जिसमें राजा देवता माना गया है। रामायणकार का ऐसा मत है कि राजा देव है, वह इस पृथ्वी तल पर मनुष्य शरीर धारण कर विचरण करता है। इसलिए राजा की हिंसा नहीं करनी चाहिए, उसकी निन्दा नही करनी चाहिए, उसका तिरस्कार नहीं करना चाहिए और उसके प्रतिकूल नहीं बोलना चाहिए क्योंकि राजा देवता है, वह मनुष्य रूप धारण कर इस भूतल पर विचरण करता है।[२] रामायण के अनुसार महान-चरित्र से युक्त राजा से महाबली यम, कुबेर, इन्द्र, और वरुण देव भी छोटे हैं।[३]

महाभारतकार ने भी राजा को देव माना है। महाभारत के शान्तिपर्व में राजा के स्वरूप का वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि राजा की उत्पत्ति यम, कुबेर, वरुण, इन्द्र, अग्नि आदि देवों के अंश से हुई है।[४] इसी लिए

१—यो दीक्षते स देवानामेको भवत्य नुत्यक्तं वै देवानागं हविरथैतद् व्रतप्रदो ॥ २·२, १६ शतपथ ब्राह्मण ॥

२—तान्न हिंस्यान्न चाक्रोशेन्नाक्षिपेन्न। प्रियं वदेत्।
देवा मानुषरूपेण चरन्त्येते महीतले ॥
श्लोक ४२ सर्ग १८ किष्० का०

३—यमो वैश्रवण: शक्रो वरुणश्च महाबल: ।
विशिष्यन्ते नरेन्द्रेण वृत्तेन महता तत: ॥
श्लोक ३५ सर्ग ६७ अयोध्याकण्ड ॥

४—कुरुते पंच रूपाणि काल युक्तानि य: सदा ।
भवत्यग्निस्तथादित्यो मृत्युर्वैश्रवणोयम: ॥
श्लोक ४१ अ० ६८ शा० पर्व ॥

महाभारत मे राजा को मनुष्य समझ कर उसके तिरस्कार किए जाने का निषेध किया गया है। महाभारत के अनुसार राजा एक परम देव है जो मनुष्य रूप धारण कर पृथ्वी पर अवतरित होता है। मनुष्य मात्र का यह धर्म है कि राजा को मनुष्य समझकर उसका कभी तिरस्कार न करे।[१] महाभारतकार ने राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए यह आदेश दिया है कि राजा और देव में अन्तर नही होता। वह महत्व (राजत्व) को धारण कर इस भूतल पर विष्णु रूप को प्राप्त होता है।[२]

पुराणों में भी राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का समर्थन किया गया है। विष्णु पुराण में राजा बेन के मुख से यह कहलवाया गया है—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, वरुण, धाता, पूषा, पृथ्वी और चन्द्र तथा इनके अतिरिक्त और भी जितने देव श्राप देने और कृपा करने में समर्थ हैं, वह सभी राजा के शरीर में वास करते है। इस प्रकार राजा सर्व देवमय है।[३]

शुक्रनीति में भी राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए कहा गया है—राजा का निर्माण इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर इन आठ देवों के अंशों से हुआ है।[४] इसी प्रसग में दूसरे स्थल पर राजा को प्रजा का माता, पिता, गुरु, भ्राता, और मित्र माना गया है।

१—नहि जात्यत्वमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नर रूपेण तिष्ठति॥

श्लोक ४० अ० ६८ शा० पर्व॥

२—ततो जगति राजेन्द्र सततं शब्दितं बुधैः।
देवाश्च नरदेवाश्च तुल्या इति विशाम्पते॥

श्लोक १४४ अ० ५६ शा० पर्व॥

महत्वेन च संयुक्तो वैष्णवेन नरो भुवि॥ १३४ अ० ५६ शा० पर्व॥

३—ब्रह्मा जनार्दनः शम्भुरिन्द्रो वायुर्यमो रविः।
हुत भुग्वरुणो धाता पूषा भूमिर्निशाकरः॥

श्लोक २१ अ० १३ अंश १ विष्णुपुराण॥

एते चान्येच ये देवाः शापानुग्रहकारिणः।
नृपस्यैते शरीरस्थाः सर्वदेवमयो नृपः॥

श्लोक २२ अ० १३ अंश १ विष्णुपुराण

४—इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्चवरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चापिमात्रा निर्हृत्यशाश्वतीः॥

श्लोक ७१ अ० १ शुक्रनीति॥

साथ ही उसको यम और कुबेर देव की समता दी गयी है। [१] इसी प्रकरण में राजा को देवांशक: की उपाधि प्रदान की गयी है। [२]

राजा की दैवी उत्पत्ति का यह सिद्धान्त भारत में गुप्त युग में प्रचलित रहा। इस युग में भी राजा कुबेर, वरुण, इन्द्र और यम का साक्षात रूप समझा जाता था। लोग राजा को मनुष्यरूप में देवता समझते थे। राजा को वह देव एवं अचिंत्य पुरुष शब्दों से सम्बोधित करते थे। गुप्त कालीन शिलालेखों से ऐसा सिद्ध होता है। [३]

राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रभाव भारतीय जनता पर बहुत गहरा पड़ा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि ऐसे युग में भी जब कि विश्व के कोने-कोने में राजक्रान्तियाँ राजपद के उन्मूलन हेतु हो रही हों, भारतीय जनता राजा मे अटूट निष्ठा रखती रही है। वह आज भी राजद्रोह से घृणा करती है और न्यायी राजा का वध करना उसकी दृष्टि में ऐसा महान पाप है जिसके प्रायश्चित्त का विधान हिन्दू शास्त्रकारों ने कहीं भी नहीं किया। न्यायी राजा के विरोध में विप्लव का बवण्डर खड़ा करना उसके लिए सदैव असह्य रहा है।

मानवधर्मशास्त्र के दैवी सिद्धान्त की विशेषता—इस प्रकार मानवधर्मशास्त्र में राजा की दैवी उत्पत्ति का जो वर्णन उपलब्ध है, उसका इतिहास बहुत पुराना है। इस सिद्धान्त का उद्‌गम स्थान जैसा कि पीछे वर्णन किया जा चुका है, ऋग्वेद की ऋचाएँ है और इस सिद्धान्त का प्रचार मानव धर्मशास्त्र के रचनाकाल के बहुत पीछे तक होता रहा। इस सिद्धांत के इस लम्बे इतिहास काल में इसके रूप में भी परिवर्तन और परिवर्द्धन होते रहे हैं। वैदिक साहित्य में राजा देव का साक्षात् अवतार नहीं माना जाता था। वरन् उसमें उस की कतिपय विभूतियों का समावेश माना जाता था। मानवधर्मशास्त्र के रचना काल में इस विचार धारा में बड़ा परिवर्तन हो गया। जो राजा इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि देवों के समान समझा जाता था, वह इस

१—पितामातागुरुर्भ्राताबन्धुर्वैश्रवणोयमः।
नित्यं सप्तगुणैरेषांयुक्तो राजानचान्यथा॥

श्लोक ७७ अ० १ शुक्रनीति॥

२—गुणिजुष्टस्तु यो राजा संज्ञेयो देवतांशकः॥

श्लोक ८५ अ० १ शुक्रनीति॥

३—अचिन्त्य पुरुष धनद वरुणेन्द्रान्तक समस्य लोकधाम प्रलयहेतु॥
स्तम्भ अभिलेख प्रयाग समुद्रगुप्त॥

काल में उनका साक्षात् अवतार माना जाने लगा। मनु ने मुक्त कण्ठ से सम्भवतः सर्व प्रथम यह घोषणा की कि चाहे राजा बालक ही क्यों न हो परन्तु वह भी महान् देवता है। अतः, उसका किसी प्रकार भी अपमान नहीं होना चाहिए। इस दृष्टि से मनु ने मर्यादा स्थापित कर राजपद को अत्यन्त दिव्य एवं पवित्र निर्धारित कर दिया। इस प्रकार मनु ने राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को चरम सीमा तक पहुँचाने का प्रयास किया। मनु के द्वारा प्रतिपादित राजा की दैवी उत्पत्ति के इस सिद्धान्त को भारत में गुप्तकालीन नरेशों की प्रजा ने उसी रूप में पालन किया है, ऐसा उस काल के शिला अभिलेखों एवं मुद्राओं आदि से प्रकट होता है। परन्तु दूसरी ओर कुछ ऐसे भी राजशास्त्र प्रणेता हुए हैं जिन्होंने मनु के इस मत का विरोध किया है। वह इस सिद्धान्त को इस सीमा तक ले जाने के पक्ष में नहीं थे। इस कोटि के राजशास्त्र प्रणेताओं के प्रतिनिधि शुक्र हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त में क्रान्ति और विप्लव की गंध किसी न किसी रूप में छिपी हुई प्रतीत होती है। मनु ने राजपद को जिस मर्यादापूर्ण माना है शुक्र वह मर्यादा उस मात्रा में नहीं मानते। उनके विचार से प्रकृति के तीन गुणों (सत, रज और तम) के अनुसार राजा भी तीन प्रकार के होते हैं।[१] जिस राजा में तामस् गुण का प्राधान्य होता है, वह राजा देव नही माना जा सकता। ऐसा राजा राक्षसांश युक्त माना जाएगा।[२] जो राजा रजोगुण प्रधान होगा वह भी देव का स्थान नही प्राप्त कर सकता। वह मानवांश युक्त माना जाएगा।[३] परन्तु जिस राजा में सतोगुण का प्राधान्य होगा वह एकमात्र राजा देवत्व को प्राप्त होगा,[४] और इस प्रकार के राजा की उत्पत्ति दैवी मानी जाएगी। इस प्रकार शुक्र मनु के मत से भिन्नता रखते हुए राजाओं को तीन वर्गो में विभक्त कर केवल उन राजाओं की उत्पत्ति दैवी मानते हैं जिनमें सतोगुण का प्राधान्य होता है।

१—सात्विकंतामसंचैवराजसंत्रिविधंतपः।
यादृक् तपतियोत्यर्थतादृग्भवति सो नृपः॥
श्लोक २९ अ० १ शुक्रनीति॥

२—राक्षसांशास्तु तामसः॥ श्लोक ३५ अ० १ शुक्रनीति॥

३—राजसोमानवांशास्तु॥ श्लोक ३५ अ० १ शुक्रनीति॥

४—देवांशान्सात्विकः॥ श्लोक ३५ अ० १ शुक्रनीति॥

इस प्रकार मानवधर्मशास्त्र में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त में विशेषता है और वह विशेषता यह है कि मनु ने राजपद को अत्यन्त मर्यादित एवं दिव्य तथा पवित्र माना है।

मानवधर्मशास्त्र द्वारा प्रतिपादित दैवी सिद्धान्त तथा पाश्चात्य दैवी सिद्धान्त की तुलना—मानवधर्मशास्त्र में प्रतिपादित राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त तथा पाश्चात्य देशों के तत्वदर्शियों द्वारा स्थिर किए गए तत्सम्बन्धी सिद्धान्त में बहुत बड़ा अन्तर है। पाश्चात्य विचार धारा के अनुसार राजा भगवान का प्रतिनिधि माना गया है। ऐसे राजा का उत्तरदायित्व भगवान पर ही आश्रित होता है। राजा की आज्ञाओं का प्रजा द्वारा उल्लंघन करना भगवान की आज्ञाओं के उल्लंघन करने के समान माना गया है। इसलिए इन तत्ववेत्ताओं के मतानुसार राजा द्वारा दी गयी उचित या अनुचित आज्ञाओं का प्रजा द्वारा पालन किया जाना ही प्रजा का परम धर्म माना गया है। दैववश, यदि किसी राज्य में बुरा राजा होता है तो इसका तात्पर्य यह है कि ईश्वर ने वहाँ की प्रजा के पाप-कर्मों के परिणाम स्वरूप उनके लिए ऐसा राजा भेजा है। ईश्वर ने उन लोगों को उनके पाप-कर्मों के अनुसार दण्ड देने के निमित्त ऐसा राजा भेजा है। राजा के विरुद्ध प्रजा के कोई भी अधिकार नही होते, जो कुछ भी अधिकार प्रजा भोगती है वह राजा द्वारा प्रदान किया हुआ उसका प्रसाद मात्र है।

किन्तु तत्सम्बन्धी भारतीय सिद्धान्त इस का नितान्त विरोधी है। राजा ईश्वर का अंश अथवा देव अवश्य है परन्तु उसका देवत्व उसके शिष्ट एवं उच्च आचरण पर निर्भर है। उस में भगवान की विभूतियाँ विद्यमान होती हैं। इन विभूतियों की प्राप्ति सर्वसाधारण के लिए अत्यन्त कठिन है और जिनको वह उग्र तपस्या और कठोर आत्मसंयम आदि के द्वारा प्राप्त करता है।[1] इस प्रकार राजा अपनी प्रजा के लिए आदर्श चरित्र की साक्षात मूर्ति होता है,[2] जिसका अनुसरण उसकी प्रजा को अपने दैनिक जीवन में करना चाहिए।

१—इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम्।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः॥
श्लोक ४४ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

२—कृतंत्रेता युगं चैव द्वापरं कलिरेव च।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते॥
श्लोक ३०१ अ० ९ मानवधर्मशास्त्र॥

यद्वृत्ताः सन्ति राजानस्तद् वृत्ताः सन्ति हि प्रजाः॥
श्लोक ९ सर्ग १०९ अयोध्या काण्ड रामायण॥

आचारप्रेरकोराजाह्येतत्कालस्य कारणम्॥ श्लोक २२अ० १ शुक्रनीति॥

मानवधर्मशास्त्र भी इसी सिद्धान्त की स्थापना करता है। मानवधर्मशास्त्र राजा को अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र कुवेर, वरुण और इन्द्र देव इस लिए मानता है कि राजा में इन देवों की विभूतियाँ स्थान पाती हैं। मनु यह स्पष्ट आदेश देते है कि राजा को इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्र, अग्नि और पृथ्वी के सामर्थ्य रूप कार्य करने चाहिए।[१] वर्षा ऋतु के चार मास में इन्द्र देव जैसे वर्षा करके लोक को तृप्त करता है वैसे ही राजा को अपनी प्रजा पर उसके सुख भोग की सामग्री की वर्षा कर उसको तृप्त करना चाहिए।[२] आठ महीने सूर्य अपनी किरणों के द्वारा पृथ्वी से स्वल्प-स्वल्प करके जल ग्रहण करता रहता है, इसी प्रकार राजा को अपनी प्रजा से कर ग्रहण कर सूर्य देव के व्रत को धारण करना चाहिए।[३] जिस प्रकार वायु समस्त चल और अचल सृष्टि में प्रवेश करता है इसी प्रकार राजा को चर-व्यवस्था स्थापित कर अपनी प्रजा के सुख-दुख का पता लगाते रहना चाहिए।[४] यम मित्र-शत्रु को समान रूप में कर्मानुसार दण्ड देता है उसी प्रकार राजा को अपनी प्रजा में न्याय-व्यवस्था को स्थापित कर प्रजा को न्यायानुकूल शासित करने का व्रत धारण करना चाहिए।[५] जैसे पूर्ण चन्द्र का दर्शन कर मनुष्य हर्षित

१—इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च।
चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत् ॥
श्लोक ३०३ अ० ९ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—वार्षिकांश्चतुरो मासान्यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति।
तथाभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥
श्लोक ३०४ अ० ९ मानवधर्मशास्त्र ॥

३—अष्टौ मासान्यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः।
तथा हरेत्करं राष्ट्रान्नित्यकर्मव्रतं हि तत् ॥
श्लोक ३०५ अ० ९ मानवधर्मशास्त्र ॥

४—प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः।
तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥
श्लोक ३०६ अ० ९ मानवधर्मशास्त्र ॥

५—यथा यमः प्रियद्वेष्यौः प्राप्ते काले नियच्छति।
तथा राज्ञा नियन्तव्या प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥
श्लोक ३०७ अ० ९ मानवधर्मशास्त्र ॥

होते हैं उसी प्रकार जिस राजा की प्रजा राजा को देखकर आह्लादित होती है वह राजा चान्द्रव्रत धारण करने वाला माना गया है। [१] पाप करने वालों पर जो राजा सदैव अग्निवत् जाज्वल्यवान रहता है और दुष्ट वीरों का निरोध करता है ऐसा राजा अग्नि देव के समान व्रती माना जाएगा है। [२] जिस प्रकार पृथ्वी समस्त सृष्टि को निरन्तर धारण करती है उसी प्रकार राजा भी अपने राज्य की समस्त प्रजा को धारण करता है। इस लिए ऐसा राजा पृथ्वी माता के व्रत का धारण करने वाला माना जाएगा। [३] जैसे वरुण के पाशों से प्राणी बंधे हुए देखे जाते हैं उसी प्रकार जब राजा पापियों का शासन करता है उस समय वह वरुण देव कहलाता है। [४] इसी विषय में मानवधर्मशास्त्र में यह स्पष्ट व्यवस्था दी गयी है कि राजा कार्य, शक्ति, देश और काल को तत्व से देखकर धर्म की सिद्धि के लिए बार-बार नाना प्रकार का रूप धारण करता है। [५] इस प्रकार मानवधर्मशास्त्र में राजा के सदाचरण एवं कर्तव्यपरायणता पर बहुत बड़ा महत्त्व दिया गया है। राजा के सदाचरण के महत्त्व का उल्लेख करते हुए मनु यह व्यवस्था देते हैं कि राजा को विनय-

---

१—परिपूर्णं यथाचन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः।
तथा प्रकृतयो तस्मिन् स चान्द्रव्रतिको नृपः॥
श्लोक ३०९ अ० ९ मानवधर्मशास्त्र॥

२—प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु।
दुष्टसामन्त हिंस्रश्च तदाग्नेय व्रतं स्मृतम्॥
श्लोक ३१० अ० ९ मानवधर्मशास्त्र॥

३—यथा सर्वाणिभूतानि धरा धारयते समम्।
तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम्॥
श्लोक ३११ अ० ९ मानवधर्मशास्त्र॥

४—वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाभिदृश्यते।
तथा पापान्निगृह्णीयाद् व्रतमतद्धि वारुणम्॥
श्लोक ३०८ अ० ९ मानवधर्मशास्त्र

५—कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्वतः।
कुरुते धर्म सिद्धयर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः॥
श्लोक १० अ० ७ मानवधर्मशास्त्र

शील होना चाहिए। [१] उसको व्यसनों से दूर रहना चाहिए। [२] वह ऐसे राजाओं के उदाहरण देते हैं जो इसके विपरीत आचरण धारण करने के कारण नष्ट हो गए। [३]

इस प्रकार राजा का देवत्व, मनु के मतानुसार, उसके दिव्य गुणोंपर आश्रित होता है। यदि वह उन गुणों को धारण न कर सकेगा तो वह प्रजा के राजा होने का भी अधिकार खो देता है। मानवधर्मशास्त्र में वर्णित राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त राजा को केवल इस नाते से देव मानता है कि वह दिव्य गुण धारण करता है। ऐसा नहीं कि वह इस पृथ्वीतल पर ईश्वर का प्रतिनिधि रूप होकर प्रजा की इच्छाओं के विरुद्ध स्वेच्छाचारपूर्ण शासन करने का अधिकारी है। मानवधर्मशास्त्र में वर्णित राजपद राजधर्म की निर्धारित सीमा में बद्ध रह कर राजा को राजधर्म के नियमों का पालन करने के लिए विवश करता रहता है। राजा का पूर्ण उत्तरदायित्व उसी राजधर्म पर आश्रित माना गया है न कि ईश्वर के आश्रित। राजधर्म के नियमो को भग करने पर राजा राजपद से च्युत किए जाने का वैध रूप से अधिकारी हो जाता है। इस लिए मानवधर्मशास्त्र में वर्णित राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त पाश्चात्य देशों के तत्सम्बन्धी सिद्धान्त से किसी प्रकार का सम्बन्ध नही रखता।

राजा का स्वरूप—मानवधर्मशास्त्र में राजा का जो स्वरूप वर्णन किया गया है उसका सम्यक ज्ञान प्राप्त करने के लिए मानवधर्मशास्त्र में वर्णित धर्म और दण्ड के स्वरूप को जान लेना परम आवश्यक है। धर्म और दण्ड के स्वरूप को बिना समझे हुए मानवधर्मशास्त्र में वर्णित राजा के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान प्राप्त नही हो सकता। मानवधर्मशास्त्र के अनुसार धर्म-स्थापना के निमित्त ही राजा का निर्माण किया गया था और धर्म की स्थापना राजा दण्ड के द्वारा करता है। इसी लिए राजा के स्वरूप को जानने के लिए धर्म और दण्ड के स्वरूप को जान लेना आवश्यक है।

१—विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित् ॥

श्लोक ३९ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥

श्लोक ४५ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

३—वेनो विनिष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः।

सुदासोयवनश्चैवसुमुखोनिमिरेवच ॥

श्लोक ४१ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

(क) धर्म—हिन्दू धर्मशास्त्र प्रणेताओं की अटूट निष्ठा इस सिद्धान्त में रही है कि इस जगती तल में प्राणि मात्र का कल्याण उनके स्वधर्म पालन में निहित होता है। जगत में जब प्रत्येक प्राणी अपने धर्म का पालन विधिवत करता रहता है तो उस काल में जगत में सुख और शान्ति की वर्षा होती रहती है। प्रत्येक प्राणी सुखी और सन्तुष्ट होकर अपना जीवन व्यतीत करता हुआ अपने जीवन के परम ध्येय, मोक्ष, को प्राप्त करता रहता है। हिन्दू धर्म-शास्त्र के इन प्रणेताओं में मनु भी हैं। उनका धर्म से क्या तात्पर्य है यह जान लेना आवश्यक है। मनु ने धर्म का प्रयोग संकुचित अर्थ में नहीं किया। उन्होंने धर्म का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में किया है। "धृ" धातु से धर्म शब्द की प्राप्ति होती है और जिसका अर्थ धारण करना है। इस प्रकार धर्म से मनु का तात्पर्य उस गुण वा तत्व से है जिसके आधार पर प्राणि व अप्राणि अपने वास्तविक स्वरूप को धारण करने में समर्थ हो सके। उष्णता और प्रकाश अग्नि को धारण करते हैं। यदि अग्नि से उसके इन दोनों गुणों को पृथक कर दिया जाए तो वह अग्नि अपना अस्तित्व खो देगी। इस लिए अग्नि को अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए उष्णता और प्रकाश गुणों को धारण किए रहना अनिवार्य होगा। बस यही अग्नि का धर्म है। इस प्रकार प्राणिमात्र का धेय स्वधर्म पालन होगा। यदि ऐसा न होगा तो जगत में अव्यवस्था हो जाएगी। इसलिए प्राणि मात्र का परम कर्तव्य यह है कि उनको स्वधर्म पालन के द्वारा जगत में सुव्यवस्था स्थापित करते रहना चाहिए। उनको धर्मसंकर से सदैव दूर रहना चाहिए।

(ख) दण्ड—स्वधर्म पालन के इस सिद्धान्त में अटूट निष्ठा रखते हुए मनु ने यह कठिनाई अनुभव की कि मनुष्य समाज ऐसे प्राणियों से बना है जिस में स्वधर्म परायण मनुष्य दुर्लभ होते हैं।[1] इसलिए इन अधर्मपरायण (अशुचि) मनुष्यों को उन के स्वधर्म पालन के निमित्त विवश करने के लिए उन्हे दण्डित करना परम आवश्यक है। बस इसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु उन्होंने दण्ड की उत्पत्ति की व्यवस्था दी है। इस विषय में मनु इस प्रकार वर्णन करते हैं—प्राणि मात्र के रक्षक आत्मा से उत्पन्न ब्रह्मतेज से निर्मित दण्ड का सृजन ईश्वर ने किया[2]। दण्ड के भय से सम्पूर्ण स्थावर और जंगम भोग को

१—दुर्लभो हि शुचिर्नरः ॥ श्लोक २२ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्मात्मजम् ।

ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥

श्लोक १४ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

प्राप्त होते हैं और अपने धर्म से विचलित नही होते ।[१] वह दण्ड ही राजा है, वही पुरुष है, वही नेता तथा शासिता और चारों आश्रमों के धर्म का प्रतिभू है, ऐसा स्मृतियाँ मानती है ।[२] दण्ड सम्पूर्ण प्रजा का शासन करता है, दण्ड ही उसकी रक्षा करता है, सबके सो जाने पर दण्ड ही जागता रहता है । उसी के भय से लोगों के सो जाने पर चोर चोरी नहीं करते, और विद्वान लोग दण्ड को धर्म मानते है ।[३] सम्पूर्ण लोग दण्ड से नियमित किए जाने पर ही सन्मार्ग में रहते है क्योंकि शुचि मनुष्य दुर्लभ हैं । सम्पूर्ण जगत दण्ड के भय से ही भोग कर सकता है ।[४] देव, दानव, गन्धर्व, राक्षस, पक्षी और सर्प, यह भी दण्ड के ही दबे हुए भोग को पा सकते है ।[५] दण्ड के अभाव में सम्पूर्ण वर्ण दुष्टाचरण में प्रवृत्त हो जाते है, समस्त मर्यादाएँ नष्ट हो जाती है और समस्त लोग कर्तव्य विमूढ़ हो जाते हैं ।[६]

महाभारतकार ने दण्ड की परिभाषा करते हुए बतलाया है कि इस लोक में जिस में सम्पूर्ण अधिकार रहते हैं उसको ही दण्ड कहते है ।[७]

१—तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्नचलन्ति च ।।
श्लोक १५ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

२—स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः ।
चतुराणामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ।।
श्लोक १७ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

३—दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डंधर्म बिदुर्बुधाः ।।
श्लोक १८ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

४—सर्वोदण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः ।
दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते ।।
श्लोक २२ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

५—देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पतगोरगाः ।
तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ।।
श्लोक २३ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

६ —दुष्येयुः सर्व वर्णाश्च भिद्येरन् सर्व सेतवः ।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात् ।।
श्लोक २४ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

७—यास्मिन् हि सर्वमायत्तं स दण्ड इह केवलः ।।
श्लोक ८ अ० १२१ शा० पर्व महाभारत ।।

अर्थात दण्ड को ही इस जगत में सम्पूर्ण सत्ता प्राप्त है। दण्ड के बाहर कुछ भी सता नही होनी। इसलिए जिस दण्ड का ऐसा उल्लेख है वह दण्ड ही प्राणि व अप्राणि जगत को उसके स्वधर्म पालन के निमित्त विवश करने की क्षमता रखता है।

(ग) **दण्ड धारण करने का अधिकारी**—परन्तु सबसे गहन समस्या दण्ड के सम्यक प्रयोग किए जाने की है। यदि दण्ड का सम्यक प्रयोग होगा तो उस से जगत का कल्याण होगा। इसके विरुद्ध यदि दण्ड का अनुचित प्रयोग किया जाएगा तो वह दण्ड के प्रयोग करने वाले और जिस पर वह प्रयुक्त हुआ है उन दोनों का नाश कर देता है। इसी लिए मानवधर्मशास्त्र में जहां दण्ड की महिमा के इतने गुण गाए गए हैं वहीं यह भी बतलाया गया है कि दण्ड का प्रयोग बड़ी सावधानी से होना चाहिए। सम्यक प्रकार से प्रयुक्त किया गया दण्ड प्राणि मात्र के कल्याण का हेतु होता है परन्तु इसके विपरीत प्रयोग किए जाने से प्राणिमात्र का नाश होता है।[1] इसी लिए मानवधर्मशास्त्र में इस प्रकार की स्पष्ट व्यवस्था दी गयी है कि देश, काल, शक्ति और विद्या के तत्व को भली भांति विचार कर अन्यायी मनुष्य को अपराध के अनुसार दण्ड देना चाहिये।[2]

(घ) **राजा का पद**—इसी लिए एक ऐसे व्यक्ति के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई जो विश्व के कल्याण के लिए इस सर्व शक्तिमान दण्ड का सम्यक प्रकार से प्रयोग कर सके। दण्ड के सम्यक प्रकार से प्रयोग करने के लिए जिस पुरुष का निर्माण किया गया वह राजा के नाम से सम्बोधित किया गया। यह प्रजा का रजन (प्रसन्न) करने वाला होता है इसी लिए वह राजा कहलाया और उस का पद राजपद के नाम से सम्बोधित किया गया। इस प्रकार इस प्रामाणिक वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव धर्मशास्त्र में जिस राजा का वर्णन किया गया है राज्य में उसका स्थान सर्वोपरि नहीं है वरन उसका स्थान दूसरा है। राज्य में सर्वोपरि स्थान धर्म और दण्ड का है। मानव धर्मशास्त्र में यह भी व्यवस्था दी गयी है कि प्रत्येक

१—**समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः।**
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः॥
श्लोक १९ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र

२—**तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्वतः।**
यथार्हतः संप्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु॥
श्लोक १६ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र

व्यक्ति इस दण्ड के धारण करने की सामर्थ्य नहीं रखता। इस लिए प्रत्येक व्यक्ति राजा नहीं बनाया जा सकता। इस दण्ड के धारण करने का किस को अधिकार है इस विषय में यह व्यवस्था दी गयी है—सत्यवादी, समीक्षा-परायण (गुण-दोष की सम्यक प्रकार से समीक्षा की सामर्थ्य रखनेवाले), बुद्धिमान, और धर्म, अर्थ और काम के वास्तविक रहस्य के ज्ञाता राजा को दण्ड धारण करने का अधिकारी बतलाया गया है। [1] दण्ड बड़े तेज वाला है। शास्त्रोक्त संस्कार रहित राजाओं से दण्ड धारण नहीं किया जा सकता। यदि राजधर्म के विपरीत आचरण धारण करने वाला राजा दण्ड को धारण भी कर लेता है तो इस प्रकार धारण किया गया दण्ड बन्धु-बान्धवों सहित उस राजा का नाश कर देता है। [2] दण्ड के प्रयोग का अधिकारी कौन राजा होता है इस विषय में मानवधर्मशास्त्र में यह व्यवस्था दी गयी है—शुचि ,सत्य प्रतिज्ञ, शास्त्रानुसार आचरण धारण करने वाले, सुसहायकों वाले, और बुद्धिमान राजा के द्वारा दण्ड का प्रयोग किया जा सकता है। [3]

(ङ) **राजा का परम कर्तव्य**—इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दण्ड के धारण एवं उसके प्रयोग करने का अधिकारी प्रत्येक राजा नहीं है। उसका अधिकारी वही राजा होता है जो धर्म-परायण है। मानवधर्मशास्त्र के उपर्युक्त वर्णन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सर्व प्रथम धर्म स्थापना के लिए दण्ड का निर्माण हुआ। उस के पश्चात उस दण्ड के धारण एवं उसके प्रयोग करने के लिए राजा का निर्माण हुआ। इस प्रकार राजा के केवल दो परम कर्त्तव्य हैं। उस का प्रथम कर्तव्य यह है कि वह दण्ड को धारण कर अपने राज्य की प्रजा में उसका सम्यक प्रकार से प्रयोग कर प्रत्येक प्राणि को उसके धर्म पालन के लिए विवश करता है इसके साथ ही उस का दूसरा परम कर्तव्य यह है कि वह अपने को इस

१—तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम्।
समीक्ष्य कारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम्॥
श्लोक २६ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र

२—दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम्॥
श्लोक २८ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र

३—शुचिना सत्यसन्धेन यथा शास्त्रानुसारिणा।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता॥
श्लोक ३१ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र

योग्य सदैव बनाए रखे कि उस में दण्ड धारण करने एवं उसके सम्यक प्रकार से प्रयोग किए जाने की सामर्थ्य एवं पात्रता बनी रहे। बस इन्हीं दो कर्तव्यों के पालन कर लेने से राजा के समस्त धर्मो का पालन हो जाता है। इस लिए मनु ने जिस राजा के निर्माण किए जाने का आदेश दिया है। उस का पद राज्य में दूसरा है।

(च) ब्रह्मशक्ति और क्षात्रशक्ति का सामंजस्य—अब एक जटिल समस्या यह उपस्थित हो जाती है कि दण्ड का सम्यक प्रयोग किस प्रकार हो सकता है। इस समस्या के निराकरण हेतु यह परम आवश्यक है कि राजा को अपने राज्य की स्थावर और जंगम दोनों प्राकर की सृष्टि के धर्मों का विधिवत ज्ञान होना चाहिए जिस से वह अपने राज्य में धर्म स्थापना के वास्तविक रूप को समझने में समर्थ हो सके और उन प्राणियों को दण्ड दे सके जो अपने धर्म से विचलित होते हैं। इसके साथ ही राजा को इस विषय का भी सम्यक बोध होना चाहिये कि स्वधर्म से उसकी प्रजा वर्ग में से प्रत्येक प्राणी कितनी मात्रा में धर्म-पथ से विचलित होने पर उस प्राणी को कितनी मात्रा में दण्ड मिलना चाहिये। इस प्रकार दण्ड-प्रयोग के नियमों के निर्माण की परम आवश्यकता प्रतीत हुई। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए दण्डनीति का निर्माण हुआ। इस दण्डनीति के निर्माण हेतु ब्रह्मशक्ति का आश्रय लिया गया। भारतीय परम्परा के अनुसार ब्रह्मशक्ति रूपी निधि ब्राह्मण वर्ग में वास करती है। दण्ड नीति का निर्माण इसी ब्रह्म शक्ति के द्वारा हुआ। हिन्दू धर्म शास्त्रों में राजा को दण्डनीति के नियमों के निर्माण करने का अधिकार नहीं दिया गया है। वहां राजा का केवल यह अधिकार अथवा कर्तव्य बतलाया गया है कि राजा ब्रह्मशक्ति के द्वारा निर्मित दण्डनीति के नियमों के अनुसार धर्म से विचलित अपने राज्य की प्रजा को दण्डित कर उसको उसके धर्मपालन के लिए विवश करना है। इसलिए क्षात्र शक्ति के पथप्रदर्शन हेतु ब्रह्म शक्ति का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है, और इस प्रकार राजा को ब्राह्मण द्वारा किए गए पथ-प्रदर्शन के अनुसार शासन करना पड़ता है। मानवधर्मशास्त्र में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए मनु इस प्रकार व्यवस्था देते हैं—ब्राह्मण रहित क्षत्रिय वृद्धि को प्राप्त नहीं होता और उसी प्रकार क्षत्रिय रहित ब्राह्मण भी वृद्धि को प्राप्त नहीं होता। इसलिए ब्राह्मण और क्षत्रिय एक दूसरे के सहयोग से इस लोक और परलोक दोनों में वृद्धि को प्राप्त करते हैं।[1] मानवधर्मशास्त्र में क्षात्रशक्ति को ब्रह्म शक्ति के अधीन रहकर लोक-

---

१—नऽब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते।
ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते॥
श्लोक ३२२ अ० ९ मानवधर्मशास्त्र॥

कल्याण कार्य सम्पादन हेतु आदेश दिया गया है। इसी उद्देश्य से मनु राजा को केवल प्रबन्धक रूप में मानते हैं। वह राजा को उसके अधीन राज्य की प्रभुता का स्वामी न मानकर उसकी सुव्यवस्था करने वाला मानते हैं। इस विषय में राजा के स्वामित्व के अधिकार का निषेध करते हुए मनु कहते हैं—ब्राह्मण प्राणि मात्र के धर्म रूपी कोश की रक्षा के कारण सब का स्वामी है।[1] जगत में जो कुछ भी है वह सब कुछ ब्राह्मण का ही है।[2] परन्तु दण्ड प्रयोग के क्षेत्र में ब्राह्मण भी राजा के अधीन माना गया है। इस विषय में मनु यह व्यवस्था देते हैं—ब्राह्मण धर्म का मूल है (ब्राह्मण के द्वारा ही धर्म के वास्तविक स्वरूप का बोध होता है) और राजा अग्र नेता है।[3]

मानवधर्मशास्त्र में वर्णित ब्रह्मशक्ति और क्षात्र शक्ति के सामंजस्य एवं ब्रह्म शक्ति के अधीन क्षात्र शक्ति के रहने से प्राणिमात्र का कल्याण होता है इस सिद्धान्त की स्थापना यजुर्वेद में भी की गयी है। यजुर्वेद में वह राष्ट्र सर्व सुख सम्पन्न माना गया है जहाँ ब्रह्मशक्ति और क्षात्र शक्ति दोनों एक दूसरे से मिले हुये विचरते हैं। यजुर्वेद में इस विषय का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है—जहाँ ब्रह्म बल एवं क्षात्र बल एक साथ मिलकर भली-भाँति विचरते हैं तथा जहाँ विद्वान (ब्राह्मण) अग्र नायक के साथ सहयोग करते हैं उस राष्ट्र को मैं पुण्य (सर्व सुख सम्पन्न) समझता हूँ।[4]

इसलिए राजा को अपने कर्तव्य पालन करने के लिए ब्रह्मशक्ति के अधीन रहना पड़ता है। ब्रह्मशक्ति के द्वारा धर्म की जो व्याख्या की जाएगी धर्म की उसी सीमा में रहकर उसको दण्ड का सम्यक प्रकार से प्रयोग करना होगा। इस दृष्टि से राजा का स्थान राज्य में सर्वोपरि नहीं रहने पाता। इसीलिए मानवधर्मशास्त्र में जिस आदर्श राजा का चित्र खींचा गया है उसका पद स्वच्छन्द नहीं है वरन् कतिपय प्रतिबन्धों से प्रतिबन्धित होने के कारण सीमित अधिकारयुक्त है।

१—ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥

श्लोक ९९ अ० १ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किंचिज्जगतीगतम् ॥

श्लोक १०० अ० १ मानवधर्मशास्त्र ॥

३—धर्मस्य ब्राह्मणो मूलमग्रं राजन्य उच्यते ॥

श्लोक ८३ अ० ११ मानवधर्मशास्त्र ॥

४—यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह ।

तंल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेयं यत्र देवाः सहाग्निना ॥ मंत्र २५ अ० २० यजुर्वेद ॥

तृतीय अध्याय

मन्त्रिपरिषद्

मंत्रिपरिषद् की आवश्यकता—मानवधर्मशास्त्र में ब्राह्मण को ब्रह्मा का ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र माना गया है। इसी आधार पर मानवधर्मशास्त्र में इस सिद्धान्त की स्थापना की गयी है कि इस सम्पूर्ण जगत का स्वामी ब्राह्मण होता है। इस विषय में मानवधर्म-शास्त्र में यह व्यवस्था दी गयी है—उत्तम अंग से उत्पन्न होने और ब्रह्मा के ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण इस सर्ग (जगत) का वैध स्वामी ब्राह्मण होता है।[1] इस जगती तल पर जो कुछ भी है वह सब कुछ ब्राह्मण का ही है। ब्रह्मा के श्रेष्ठ अंग से जन्म लेने के कारण ब्राह्मण सब कुछ ग्रहण करने का अधिकारी होता है।[2] ब्राह्मण का उत्पन्न होना ही पृथ्वी में श्रेष्ठ होता है क्योंकि समस्त विश्व के प्राणियों के धर्म रूपी कोश का रक्षक उसी को ब्रह्मा ने नियत किया है।[3] इस प्रकार मानवधर्मशास्त्र में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है कि इस जगत में ब्राह्मण को ही शासनाधिकार प्राप्त है परन्तु ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी विशेष ज्ञान प्राप्त करने एवं उसके अनुसार अपने आचरण धारण हेतु तप में निरन्तर संलग्न रहने के कारण अपने इस अधिकार को शासन कार्य के योग्य अपने छोटे भाई क्षत्रिय को सौंप देते हैं जो अपने बड़े भाई के परामर्श एवं

१—उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद् ब्रह्मणश्चैव धारणात्।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः॥
श्लोक ९३ अ० १ मानवधर्मशास्त्र॥

२—सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किंचिज्जगतीगतम्।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति॥
श्लोक १०० अ० १ मानवधर्मशास्त्र॥

३—ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधि जायते।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये॥
श्लोक ९९ अ० १ मानवधर्मशास्त्र॥

उनकी देख-रेख में शासन कार्य सम्पादित करता है। इस नाते से ब्राह्मण का कर्तव्य क्षत्रिय (राजा) को प्राणिमात्र के विभिन्न धर्मों का बोध कराना हो जाता है और क्षत्रिय (राजा) का कर्तव्य अपने अधीन प्राणिमात्र को उनके धर्म के अनुसार आचरण धारण करने के लिए उन्हें आत्यान्तिक सुविधा देना एवं उन्हें तदनुसार आचरण धारण करने के निमित्त विवश करना होता है। इसीलिये ब्राह्मण और क्षत्रिय का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित होता है। इसीलिये मानवधर्मशास्त्र में यह व्यवस्था दी गयी है कि ब्राह्मण की सहायता के बिना क्षत्रिय वृद्धि को प्राप्त नही होता और उसी प्रकार क्षत्रिय रहित ब्राह्मण भी वृद्धि को प्राप्त नही होता। इसलिए ब्राह्मण और क्षत्रिय पारस्परिक सहयोग का आश्रय लेकर वृद्धि को प्राप्त होते है।[1] जैसा कि पिछले अध्याय में बतलाया गया है कि राजा का कर्तव्य अपने अधीन राज्य में प्राणि मात्र को उनके स्वधर्म पालन के लिए उन्हें आत्यान्तिक सुविधा देना एवं उन्हें तदनुसार आचरण धारण हेतु विवश करना है, ठीक इसी नियम के अनुसार राजा को अपने कर्तव्य पालन करने के लिए इस विषय का सम्यक ज्ञान प्राप्त होना चाहिए कि उसके अधीन राज्य में समस्त प्रजा के अपने-अपने धर्म क्या है और उनका पालन किस प्रकार विधिवत किया जा सकता है परन्तु इन विषयों का सम्यक ज्ञान ब्राह्मण द्वारा ही राजा को कराया जा सकता है इसलिए राजा को अपने कर्तव्य के विधिवत पालन करने के लिए ब्राह्मण से परामर्श लेना अनिवार्य होगा। बस इसी सिद्धान्त के आधार पर राजा को राज्य के शासन प्रबन्ध के लिए ब्राह्मण मंत्री रखने की परम आवश्यकता मानी गयी है जिसकी पूर्ति राजा अपने मंत्री नियुक्त कर के करता है। इसी लिए मानवधर्मशास्त्र में ब्राह्मण मंत्री द्वारा दी गयी मंत्रणा के अनुसार राजा को कार्य करना चाहिए इस विषय का आदेश दिया गया है।[2] त्रयी विद्या के ज्ञाता ब्राह्मणों की उपासना प्रातः उठकर करनी चाहिए और उनके शासन को मानना चाहिए इस प्रकार का आदेश मानवधर्मशास्त्र में राजा के लिये किया गया है।[3]

१- नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते।
ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते ॥
श्लोक ३२२ अ० ६ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेनविपश्चिता।
मंत्रयेत्परमं मंत्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम् ॥
श्लोक ५८ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

३—ब्राह्मणान्परिउपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः।
त्रैविद्य वृद्धान्विदुषस्तिष्ठेत्तेषां च शासने ॥
श्लोक ३७ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

इसके साथ ही मानवधर्मशास्त्र के रचयिता का यह भी दृढ़ विश्वास है कि अकेला मनुष्य सुगम कार्य के भी करने में समर्थ नही हो सकता फिर भला अकेला राजा सहायता बिना होकर महान फल के देनेवाले राज्य सम्बन्धी कर्तव्यों का सम्पादन करने में क्यों कर समर्थ हो सकता है।[१] इस लिए राजा को राज्य के विधिवत संचालन हेतु अनेक पुरुषों से सहायता लेने की आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त एक यह बात भी है कि एक ही व्यक्ति सब कुछ जान लेने में समर्थ नहीं हो सकता भिन्न-भिन्न पुरुषों में भिन्न-भिन्न प्रकार का बुद्धि वैभव देखा गया है। इस लिए, राज्य सम्बन्धी विषयों में एक ही व्यक्ति से मंत्रणा लेने से राजा सदैव वास्तविकता पर पहुँच सके ऐसा सम्भव नही। इसलिए राजा को राज्य के शासन सम्बन्धी समस्याओं पर मंत्रणा लेने के लिए विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ कई व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ेगी।[२] साथ ही ऐसा भी सदैव सम्भव नही कि समस्याओं के प्रस्तुत होने पर तद्विषयक ज्ञान रखने वाले व्यक्ति से मंत्रणा लेने के लिए उस समय उसकी खोज की जाए। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि अनेक विषयों के विशेषज्ञ कतिपय व्यक्तियों को स्थायी रूप से अपने समीप रखें जिससे जिस क्षण राजा को मंत्रणा लेने की आवश्यकता प्रतीत हो वह उन से मंत्रणा प्राप्त कर सके। बस इन्ही सिद्धांतों के आधार पर मंत्रियों की एक परिषद् के निर्माण हेतु धर्मशास्त्रों में आदेश दिया गया है। मानवधर्मशास्त्र में भी इसी प्रकार की मंत्रिपरिषद् के निर्माण करने का आदेश दिया गया है।

मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या—राजा को मंत्रिपरिषद् में कितने सदस्य रखने चाहिए, इस विषय में मानवधर्मशास्त्र में दो स्थलों पर संकेत किया गया है। इन में से एक स्थल पर मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या निश्चित कर दी गयी है परन्तु दूसरे स्थल पर ऐसा नहीं किया गया है। प्रथम स्थल पर प्रसंगवश मनु सात अथवा आठ सदस्यों की मंत्रिपरिषद् के निर्माण का आदेश देते हैं। इस प्रसंग में मानवधर्मशास्त्र में इस प्रकार व्यवस्था दी गयी है—राजा को अच्छे कुल के परीक्षोत्तीर्ण सात अथवा आठ सचिव रखने चाहिए।[३] इस प्रकार मनु द्वारा दी गयी इस व्यवस्था के अनुसार सात

१—अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
विशेषतोऽसहायेन किं नु राज्यं महोदयम्॥
श्लोक ५५ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

२—पुरुषे-पुरुषे भिन्नं दृश्यते बुद्धिवैभवम्। श्लोक ५ अ० २ शुक्रनीति॥

३—सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षिताम्॥
श्लोक ५४ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

अथवा आठ सदस्यों की मंत्रिपरिषद् का निर्माण करना उचित होगा। परन्तु इस विषय में दूसरे स्थल पर मानवधर्मशास्त्र में जो विचार प्रकट किए गये हैं उनमें उदारता पायी जाती है। यहाँ पर मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या के विषय में भीष्म अथवा शुक्र की भाँति मनु किसी कठोर नियम के पालन किए जाने की व्यवस्था देने के पक्ष में दिखलायी नहीं पड़ते। इस मत के अनुसार राजा को मत्रिपरिषद् मे उतने सदस्य रखना उचित होगा जितने सदस्यों से शासन कार्य विधिवत संचालित किया जा सके। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मानवधर्मशास्त्र में इस प्रकार किया गया है—राजा को आलस्य रहित, चतुर और बुद्धिमान उतने (अमात्य) नियुक्त करने चाहिए जिन के द्वारा शासन कार्य विधिवत सम्पादित किया जा सके।[१] इस व्यवस्था के अनुसार कार्य की गुरुता एवं लघुता के अनुसार, अधिक अथवा अल्प अमात्यों की नियुक्ति का अधिकार राजा को दिया गया है।

इस प्रकार मानवधर्मशास्त्र में मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या के विषय में उपर्युक्त दो मत दिए गए है। इनमें से एक मत सदस्यों की निश्चित संख्या के पक्ष में और दूसरा मत समय, परिस्थिति एवं कार्य के अनुसार मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या के पक्ष में है।

मंत्रिपरिषद् की सदस्यसंख्या के विषय में प्राचीन भारत के राजशास्त्र प्रणेताओं में एक मत नहीं रहा है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि एक ओर तो मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए विविध विषयों के अलग-अलग विषयों के विशेष ज्ञाता होने चाहिए। इसलिए मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या बड़ी होनी चाहिए। परन्तु दूसरी ओर यह समस्या उपस्थित हो जाती है कि राज्य के कल्याण के लिए मंत्र गुप्त रहना चाहिए जो बड़ी सदस्य-संख्या वाली मंत्रिपरिषद् में सम्भव नही। इस उद्देश्य से मंत्रिपरिषद् की सदस्य संख्या में न्यूनता होनी चाहिए और उस संख्या पर नियंत्रण होना अनिवार्य है। इसी लिए प्राचीन भारत के राजशास्त्र प्रणेताओं ने इस विषय में भिन्न मत प्रकट किये हैं।

मंत्रिपरिषद् की सदस्य संख्या के विषय में अपना मत प्रकट करते हुए कौटिल्य ने अपने से पूर्व के कतिपय आचार्यो के मत दिए है। इस विषय में कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र में लिखते है—मनु के समर्थकों

१—निर्वर्तेतास्य यावद्भिरितिकर्त्तव्यता नृभिः ॥
तावतोऽतन्द्रितान्दक्षान् प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥
श्लोक ६१ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

ने मंत्रिपरिषद् में बारह सदस्यों के रखने की व्यवस्था दी है।[१] बृहस्पति के अनुयायियों के मतानुसार सोलह,[२] और शुक्राचार्य के अनुयायियों के अनुसार मंत्रिपरिषद् में बीस सदस्य होने चाहिए।[३] परन्तु कौटिल्य अपना मत प्रकट करते हुए कहते हैं—मेरे मत से समय और आवश्यकतानुसार मंत्रि-परिषद् में सदस्य रखने चाहिए।[४] भीष्म के मतानुसार मंत्रिपरिषद् में सैंतीस सदस्य रखना उचित है।[५] यह सदस्य चारों वर्णों के प्रतिनिधि होने चाहिए। शुक्रनीति में मंत्रिपरिषद् में दस सदस्य होने चाहिए ऐसी व्यवस्था दी गयी है।[६] परन्तु इसी प्रसंग में यह भी लिखा है कि किन्हीं विद्वानों ने मंत्रिपरिषद् में आठ सदस्यों के रखने की व्यवस्था दी है।[७] इसी प्रकार शुक्रनीति में राजा को सम्मिलित कर ग्यारह अथवा नौ सदस्यों के निर्माण का आदेश दिया गया है।

मानवधर्मशास्त्र में मंत्रिपरिषद् की सदस्य-संख्या के विषय में इस प्रकार जो दो मत दिये गए हैं वह क्रमशः शुक्र और कौटिल्य के तत्सम्बन्धी मतों से किसी अंश में समानता रखते हैं।

मंत्रिपरिषद् के निर्माण के सिद्धान्त—राजा के लिए, इस प्रकार, मंत्रि-परिषद् रखनी अनिवार्य है, क्योंकि मंत्रिपरिषद् की सहायता के बिना वह अपने प्रजारञ्जन कार्य में असफल रहता है। भीष्म, इसीलिए, राज्य की वृद्धि का मूल राजा के मंत्रियों द्वारा दी गयी मंत्रणा मानते हैं।[८] इसलिए मंत्रि-

---

१—मंत्रिपरिषदं द्वादशामात्यान्कुर्वीतेति मानवाः ॥

वार्ता ५३ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—षोडशेति वार्हस्पत्याः ॥ वार्ता ५४ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—विंशतिमित्यौशनसाः ॥ वार्ता ५५ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—यथासामर्थ्यमिति कौटल्यः॥ वार्ता ५६ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

५—श्लोक ७, ८ अ० ८५ शान्तिपर्व महाभारत ॥

६—अमात्योद्वत इत्येताराज्ञः प्रकृतयोदश ॥ श्लोक ७० अ० २ शुक्रनीति ॥

७—अष्टप्रकृतिभिर्युक्तोनृपः कैश्चित्स्मृतः सदा ॥

श्लोक ७१ अ० २ शुक्रनीति ॥

८—मंत्रिणां मंत्रमूलं हि राज्ञो राष्ट्रं विवर्द्धते ॥

श्लोक ४८ अ० ८३ शा० पर्व महाभारत ॥

परिषद् के निर्माण करते समय बड़ी सावधानी की आवश्यकता होती है। इस परिषद् मे ऐसे व्यक्ति ही स्थान पा सकें जो वास्तव में इस योग्य हों कि वह राजा को समयानुसार उचित मंत्रणा दे सकें जिस से राज्यका परम कल्याण होता रहे। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु यह परम आवश्यक होता है कि मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए आचरण, कार्य करने की क्षमता एवं योग्यता सम्बन्धी कतिपय विशेष नियमों अथवा सिद्धान्तों का आश्रय लिया जाना चाहिए। इस के अतिरिक्त यह विषय भी विचारणीय है कि राजा को मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की नियुक्ति का अधिकार यदि बिना किसी प्रतिबन्ध के दे दिया जाएगा तो राजा के उच्छृंखल हो जाने की अधिक सम्भावना है। ऐसी स्थिति में इस विषय में कतिपय प्रतिबन्धों की आवश्यकता पड़ती है जिसके अनुसार यह आशा की जाती है कि मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की नियुक्ति उचित ही होगी। इसी लिए प्राचीन भारत में राजशास्त्र के प्रणेताओं ने मंत्रिपरिषद् के निर्माण हेतु कतिपय सिद्धान्तों के पालन किए जाने की व्यवस्था दी है। मानवधर्मशास्त्र मे भी इन में से कतिपय सिद्धान्तों का उल्लेख संकेत रूप में किया गया है जिनका वर्णन यहाँ किया जाएगा।

(क) **परमपरागत सिद्धान्त**—मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए परमपरागत सिद्धान्त का अनुसरण किया जाना चाहिए ऐसा मनु का मत है। इस सिद्धान्त की स्थापना करते हुए मनु यह व्यवस्था देते हैं कि राजा को अपनी मंत्रिपरिषद् में मूल से सेवा कार्य करते हैं (मौलान्) अर्थात् परमपरागत सेवकों में से सदस्य नियुक्त करना चाहिए।[१] मौलान् पद की व्याख्या करते हुए कुल्लूक भट्ट ने लिखा है कि मौलान् पद से तात्पर्य पिता-पितामह से चले आए हुए सेवकों से है।[२] महाभारत के शान्ति पर्व में ऐसे व्यक्तियों को मंत्रिपरिषद् में स्थान दिए जाने का प्रतिपादन किया गया है जो परम्परागत मंत्रि घराने से सम्बन्धित है। महाभारत में भी इसी पद को लिख कर यह मत प्रकट किया गया है और जिस की व्याख्या नीलकण्ठ ने परम्परागत की है।[३]

इस प्रकार मनु निश्चय पूर्वक मंत्रिपद के लिए परम्परागत सिद्धान्त की स्थापना करते हैं।

१—मौलान् × × प्रकुर्वीत॥ श्लोक ५४ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

२—मोलान्पितृपितामहक्रमेण सेवकान्॥ श्लोक ५४ अ० ७ मानव धर्मशास्त्र पर कुल्लूकभट्ट कृत टिप्पणी देखिए।

३—मौलान्—परम्परागताः॥ श्लोक २० अ० ८३ शा० प० नीलकण्ठी व्याख्या देखिए।

(ख) शास्त्रों का सम्यक ज्ञान—मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए मानवधर्मशास्त्र में दूसरी अनिवार्य योग्यता शास्त्रों के सम्यक ज्ञान की प्राप्ति मानी गयी है। इस योग्यता के विषय में मानवधर्मशास्त्र में एक पद का प्रयोग कर संक्षेप में इस सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। [1] इस व्यवस्था के अनुसार मंत्रिपरिषद् के लिए सदस्यों की नियुक्ति करते समय राजा को इस विषय का पूर्ण विश्वास होना चाहिए कि मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए वह जिन व्यक्तियों का वरण करने जा रहा है उनका शास्त्रीय ज्ञान पूर्ण है और वह ज्ञान विधिवत प्राप्त किया गया है। इस विषय में प्रश्न यह उठता है कि वह कौन से शास्त्र रहे होंगे जिनके सम्यक ज्ञान प्राप्ति के लिए मानवधर्मशास्त्र में यह व्यवस्था दी गयी है। भारतीय विचार धारा के अनुसार मनुष्य जीवन का एक मात्र उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है। इसलिए मनुष्य को इस परम उद्देश्य की प्राप्ति के निमित्त निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए। परन्तु उनके इस परम उद्देश्य की प्राप्ति में धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग का बहुत बड़ा महत्त्व है। इस त्रिवर्ग का विधिवत पालन कर मनुष्य इस लोक में सुख का भोग कर परलोक में भी सुख भोगने का अधिकारी बन जाता है। इसी लिए वाल्मीकि ने उस राजा को श्रेष्ठ माना है जो धर्म, अर्थ और काम का अनुष्ठान समयानुसार करता है। [2] मनुष्य को, इस प्रकार, इस त्रिवर्ग का सेवन उचित रीति से करना चाहिए। मनुष्य को इस त्रिवर्ग का पालन किस प्रकार करना चाहिए इस विषय के बोध कराने के लिए ऋषिमुनियों ने मनुष्यमात्र पर परम कृपा कर तद्विषयक अनेक शास्त्रों की रचना की है। इन शास्त्रों में कुछ धर्मशास्त्र कहलाते हैं जो विविध धर्मों की व्याख्या कर उनके अनुसार मनुष्य को आचरण धारण करने के लिए पुरुषार्थ हेतु आदेश देते हैं। कुछ शास्त्र मनुष्य के आर्थिक जीवन से विशेष सम्बन्ध रखते है जो मनुष्य के अर्थ चिन्तन एवं उसकी प्राप्ति तथा उसके सदुपयोग सम्बन्धी विषयों की विवेचना कर उसको इस ओर पुरुषार्थी होने के लिए सचेत करते हैं। अन्य वह शास्त्र माने गए है जिनका काम से विशेष सम्बन्ध है और जो कामशास्त्र के नाम से विख्यात हैं। इस प्रकार मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए अभ्यर्थी को जब तक धर्मशास्त्रों, अर्थशास्त्रों, और कामशास्त्रों का विधिवत ज्ञान प्राप्त न होगा तब तक वह तद्विषयक चिन्तन कर नवीन योजनाओं का निर्माण कर

१—शास्त्र विदः ॥ श्लोक ५४ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—धर्मर्थं च कामं च काले यस्तु निषेवते ॥
विभज्य सततं वीर स राजा हरि सत्तम् ॥ श्लोक २०,२१ सर्ग ३८ किष्० का० ॥

उन्हें प्रजा के कल्याण हेतु रचनात्मक रूप देने में समर्थ नहीं हो सकते। धर्म, अर्थ और काम विषयक अपूर्ण ज्ञान के कारण वह स्वयं अन्धकार के गर्त में गिरते रहेंगे और साथ ही अपने राज्य की प्रजा को भी उसी ओर घसीटते रहेंगे जिसके कारण उनका बहुत बड़ा अकल्याण होगा। इसी लिए मनु ने शास्त्रों के सम्यक ज्ञान प्राप्ति की आवश्यकता बतलाकर इसको मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए अनिवार्य योग्यता निर्धारित की है। मनु ने यह स्पष्ट व्यवस्था दी है कि इन शास्त्रों के साधारण ज्ञान प्राप्त कर लेने मात्र से वह अपने कर्तव्यपालन करने में सफल नहीं हो सकते। इन शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन करने एवं तदनुसार उनके वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर लेने के उपरान्त ही मनुष्य इस योग्य हो सकता है कि वह मंत्रिपरिषद् के महान कर्त्तव्यों का पूर्ण रूप से पालन करने में समर्थ हो सके।

(ग) **शूरता**—मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के निमित्त अन्य वाञ्छनीय योग्यता शौर्य गुण की प्राप्ति मानी गयी है। साधारण कोटि के मनुष्य संकट काल के उपस्थित होने पर कर्त्तव्याकर्तव्य निरूपण करने में असमर्थ रहते हैं जिसके कारण आया हुआ संकट हटाया नहीं जा सकता। शौर्य गुण से सम्पन्न पुरुष संकट काल में स्थिरबुद्धि रह कर अपने कर्तव्य पथ से विचलित नहीं होते और अपने कर्तव्य पालन में दृढ़ता पूर्वक संलग्न रहते है। इस कोटि के पुरुष या तो आए हुए संकट से अपना और अपने आश्रित जनों को मुक्त करने में समर्थ होते हैं, अथवा अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सतत पुरुषार्थ करते हुए अपने प्राणों को भी बलिवेदी पर चढ़ा देते हैं। ऐसे पुरुषों से ही सार्वजनिक सर्वहितकारी महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित किए जा सकते हैं। इसी विचार धारा के अनुसार मनु ने मानवधर्मशास्त्र में मंत्रिपरिषद् की सदस्यता हेतु शूर पुरुषों का वरण किया जाना चाहिए, इस प्रकार की व्यवस्था दी है।[1]

(घ) **उद्देश्यप्राप्ति की सामर्थ्य**—मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए चौथी योग्यता उद्देश्य प्राप्ति की सामर्थ्य मानी गयी है।[2] मंत्रिपरिषद् के सदस्यों को प्रजारञ्जन कार्य सम्पादन हेतु चिन्तन कर अनेक योजनाओं को कार्यान्वित करना पड़ता है। इस लिए इस कार्य के सम्पादन हेतु वह व्यक्ति उपयुक्त नहीं हो सकते जो दृढ़ संकल्प नहीं हैं और जो अपने उद्देश्य की प्राप्ति हेतु सतत प्रयत्न करने में स्थिर संकल्प नहीं होते। इस प्रकार के आचरण वाले पुरुष किसी निश्चय पर पहुँच नहीं पाते और यदि पहुँच भी गए तो अपने निश्चय को रचनात्मक रूप देने में समर्थ नहीं होते। प्रजा के कल्याण हेतु

१—शूरान् ।। श्लोक ५४ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

२—लब्धलक्षान् ।। श्लोक ५४ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

मंत्रिपरिषद् का जो सदस्य योजनाओं के निर्माण करने में तो कुशल है परन्तु वह उन योजनाओं को रचनात्मक रूप देने में असमर्थ रहता है, प्रजा ऐसे राजकर्मचारी के प्रति आस्था नहीं रखती। इस प्रकार के राजकर्मचारी के प्रति प्रजा सदैव के लिए अविश्वास की धारणा बना लेती है। इस लिए इस प्रकार का पुरुष मन्त्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए सर्वथा अनुपयुक्त माना जाएगा। इस बात की, इसलिए, परम आवश्यकता है कि मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए कार्यकुशल ऐसे ही व्यक्तियों का ही वरण किया जाना चाहिए जो अपने लक्ष्य के भेदन की सामर्थ्य रखते हुए प्रजारञ्जन कार्य में राजा को निरन्तर रचनात्मक कार्यों के सम्पादन में सहयोग देने में समर्थ हों न कि केवल मौखिक मंत्रणा देने में ही अपने कर्तव्यों की समाप्ति समझ लें।

उच्च कुल में जन्म—प्राचीन भारत में मनुष्य के रक्त के प्रभाव की ओर विशेष महत्त्व दिया गया है। उस युग की अधिकांश जनता की यह धारणा थी कि उच्च वंश में जन्म लेने से उच्च आचरण के निर्माण की अधिक सम्भावना होती है। मानवधर्मशास्त्र के रचना काल में इस सिद्धान्त की स्थापना हो चुकी थी कि राज्य के उच्च कर्मचारियों की नियुक्ति के समय उनके कुल वा वंश की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। ऐसे अवसरों पर यह प्रयत्न किया जाता था कि राज्य के उच्च कर्मचारियों की नियुक्ति उच्च वंश में उत्पन्न व्यक्तियों में से ही होनी चाहिए। इसी सिद्धान्त के अनुसार मनु ने मानवधर्मशास्त्र में मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की नियुक्ति हेतु आदेश दिया है। मानवधर्मशास्त्र में संकेतरूप में यह व्यवस्था दी गयी है कि मंत्रिपरिषद् के सदस्य कुलीन वंश में उत्पन्न हुए व्यक्ति होने चाहिए।[1] परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि कुल की उच्चता मात्र ही मंत्रिपरिषद् की सदस्यता का एक मात्र आधार माना गया है। मानवधर्मशास्त्र में मन्त्रिपरिषद् की सदस्यता के निमित्त जहाँ कुल की उच्चता का विधान किया गया है वहीं बुद्धि एवं सदाचरण सम्बन्धी विशेष प्रकार की अन्य योग्यताओं की प्राप्ति की भी अनिवार्यता बतलायी गयी है।

इस प्रकार मानवधर्मशास्त्र में मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के निमित्त कुल की उच्चता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। परन्तु यह प्रतिबन्ध तभी तक उपयुक्त समझा गया है जब तक कि उच्च कुल अथवा वंश में मंत्रिपद के महान् कर्तव्य के भार-वहन करने की सामर्थ्य रखने वाले व्यक्तियों के मिलने की सम्भावना होगी।

(च) परीक्षा सिद्धान्त—मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए जिन

१—कुलोद्गतान् ॥ श्लोक ६२ अ० ७ **मानवधर्मशास्त्र** ॥
कुलोदभवान् ॥ श्लोक ५४ अ० ७ **मानवधर्मशास्त्र** ॥

प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख मानवधर्मशास्त्र में है उनमें से एक सिद्धान्त यह भी माना गया है कि मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की नियुक्ति करने के पूर्व अभ्यर्थी की भली भाँति परीक्षा होनी चाहिए । यदि अभ्यर्थी अपनी इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता है तो उस को मंत्रिपरिषद् के सदस्य पद दिए जाने पर विचार किया जा सकता था । इस सिद्धान्त की स्थापना के निमित्त मनु यह व्यवस्था देते हैं—राजा को मंत्रिपरिषद् में सुपरीक्षित व्यक्तियों को सदस्य बनाना चाहिए । [1]

मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए अभ्यर्थी की परीक्षा का स्वरूप कैसा होना चाहिए इस विषय में मानवधर्मशास्त्र में कहीं भी विशेष वर्णन प्राप्त नहीं है । अतः यहाँ यह बतलाया नही जा सकता कि मनु इन अभ्यर्थियों के लिए किस प्रकार की परीक्षा निर्धारित करना चाहते थे । परन्तु दूसरे साधनों से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की नियुक्ति हेतु उपधा प्रणाली का आश्रय लिया जाता था । इस प्रणाली के द्वारा अभ्यर्थी की परीक्षा लेने का समर्थन भीष्म, कौटिल्य एवं शुक्र आदि राजशास्त्र के आचार्यो ने किया है । भीष्म उन व्यक्तियों को ही मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए उपयुक्त समझते हैं जो पंचोपधा द्वारा शुद्ध सिद्ध हो चुके हों । [2] इसी प्रकार आचार्य कौटिल्य भी उस व्यक्ति को मंत्रिपद देना उचित समझते हैं जो धर्मोपधा, कामोपधा, अर्थोपधा एवं भयोपधा प्रणाली द्वारा ली गयी परीक्षाओं में सफलता प्राप्त कर चुके हों । [3]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के निमित्त अभ्यर्थी की भली भाँति परीक्षा होनी चाहिए इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मानवधर्मशास्त्र में किया गया है । और इसी सिद्धान्त के अनुसार मंत्रिपरिषद के सदस्यों की नियुक्ति की जानी चाहिए, ऐसा मनु का मत है ।

विभाग प्रथा— मंत्रिपरिषद् के कार्य संचालन में विभाग प्रथा का अनुसरण किया जाना चाहिए ऐसा मनु का मत है । राज्य में शासन सम्बन्धी अनेक विषय होते हैं, एक ही व्यक्ति उन समस्त विषयों के विधिवत कार्य सम्पादन करने में कुशल हो ऐसा सदैव सम्भव नही । इसलिए यह आवश्यकता होती है कि शासन सम्बन्धी इन विषयों का वर्गीकरण कर शासन के हेतु उन

१—प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥ श्लोक ५४ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—परीक्ष्य च गुणान्नित्यं प्रौढ भावान्धुरन्धरान् ।
पंचोपधा व्यतीतांश्च कुर्याद्राजार्थकारिणः ॥
श्लोक २२ अ० ८३ शा० पर्व ॥

३—सर्वोपधाशुद्धान्मंत्रिणः कुर्यात् ॥
वार्ता २४ अ० १० अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

विषयों को मन्त्रिपरिषद् के ऐसे सदस्यों को अलग-अलग सौंप देना चाहिए जो उक्त विषयों के भली भाँति मर्मज्ञ हों और उन विषयों का विधिवत शासन करने में समर्थ हों। इसी उद्देश्य से राज्य के शासन-विषयों का वर्गीकरण कर उन्हें तदनुसार मंत्रिपरिषद् के विभिन्न सदस्यों को पृथक-पृथक सौंप दिया जाता है। इसी नियम के अनुसार राज्य के शासन संचालन में विभाग प्रथा का अनुसरण किया जाता है। इस सिद्धान्त का समर्थन मनु ने भी किया है।

इसके अतिरिक्त विभाग प्रणाली शासन सत्ता को विकेन्द्रीकरण की ओर लेजाने में सहायक होती है। शासन में विकेन्द्रीकरण सिद्धान्त के अपनाने से जनता की अधिकार-सीमा का विस्तार हो जाता है और जिससे राजा का अधिकारक्षेत्र किसी अंश तक सीमित हो जाता है। सम्भवतः इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर राज्य के शासन में मनु ने विभाग प्रणाली को अपनाने का समर्थन किया है।

इस विषय में मनु ने यह व्यवस्था दी है कि अमुक प्रकार की योग्यता धारण करने वाले मंत्रिपरिषद् के सदस्य को शासन सम्बन्धी अमुक विषय का कार्य सम्पादन हेतु सौंपा जाना चाहिए। मनु का मत है कि मत्रिपरिषद् के शूर, दक्ष और कुलीन सदस्यों को अर्थ विभाग (Finance Department), शुचि आचरण वाले सदस्यों को रत्नों की खानि सम्बन्धी विभाग, भीरु सदस्यों को अन्तर्निवेश विभाग (Department of ladies apartment) [1] और सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता, आकार-चेष्टाओं से मनुष्य के हृदय के भाव को जानने वाले, अन्तःकरण के शुद्ध तथा चतुर और कुलीन व्यक्ति को दूत (सन्धिविग्रह विभाग का अधिष्ठाता) बनाना चाहिए। [2] मंत्रिपरिषद् के अमात्य नाम के सदस्य को दण्ड विभाग और राजा को स्वयं राष्ट्र एवं कोश अपने अधीन रखना उचित होगा। [3] इस प्रकार मानवधर्मशास्त्र में विभाग प्रणाली का प्रतिपादन किया गया है।

१—तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान्दक्षान् कुलोद्गतान्।
शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने॥
श्लोक ६२ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

२—दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम्।
इंगिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्ष कुलोद्गतम्॥
श्लोक ६३ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

दूते सन्धिविपर्ययौ॥ श्लोक ६५ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

३—अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया।
नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते सन्धि विपर्ययौ॥
श्लोक ६५ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

मंत्रणा के विषय--प्राचीन भारत के राजशास्त्र के प्रमुख आचार्यों ने राजा को मंत्रिपरिषद् के सदस्यों से मंत्रणा लिए बिना शासन सम्बन्धी किसी भी कार्य को आरम्भ करना वर्जित बतलाया है। उनके मतानुसार राज्य के शासन सम्बन्धी प्रत्येक विषय पर राजा को अपने मंत्रियों से मंत्रणा लेना अनिवार्य है। इस सिद्धान्त की पुष्टि मनु ने भी की है। इस विषय में वह यह व्यवस्था देते हैं--राजा को प्रत्येक कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व उस कार्य के विषय में अपने मंत्री से निश्चय कर लेना चाहिए[1]। इस प्रकार राज्य के शासन सम्बन्धी प्रत्येक विषय मंत्रिपरिषद् की मंत्रणा के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत माना गया है। मनु ने मंत्रणा के कतिपय विषयों का उल्लेख भी किया है। इस उल्लेख के अनुसार सामान्य सन्धि-विग्रह के विषय, स्थान[2], समुदय[3], रक्षा, और जो प्राप्त है उसके विघ्नों के शमन के उपायों पर राजा को अपनी मंत्रिपरिषद् के सदस्यों से मंत्रणा लेनी चाहिए।[4] इन विषयों के अतिरिक्त षाड्गुण्यमय परम मंत्र भी मंत्रणा का प्रधान विषय माना गया है। परन्तु इस विषय में मंत्रणा का अधिकार मनु ने सीमित कर दिया है। उनका मत है कि मंत्रिपरिषद् के समस्त सदस्यों में सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मण मंत्री से षाड्गुण्ययुक्त परम मंत्र के विषय में राजा को मंत्रणा करनी चाहिए।[5]

१—तेन सार्धं विनिश्चित्य ततः कर्म समारभेत् ॥

श्लोक ५६ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र।

२—तिष्ठत्यनेनेति स्थानं दण्डकोशपुरराष्ट्रात्मकं चतुर्विधं चिन्तयेत्। दण्डयतेऽनेनेति दण्डो हस्त्यश्वरथपदातयस्तेषां पोषणं रक्षणादि तच्चिन्त्यम्। कोशोऽर्थनिवयस्तस्यायव्ययादि, पुरस्य रक्षणादि, राष्ट्रं देशस्तद्वासिमनुष्यपश्वादिधारणक्षमत्वादि चिन्तयेत् ॥

पर कल्लूकभट्ट कृतमन्वर्थमुक्तावली टिप्पणी ॥

श्लोक ५६ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र

३—तथा समुदयन्त्युत्पद्यन्तेऽस्मादर्था इति। स मुदयो धान्यहिरण्याद्युत्तिप स्थानं तन्निरूपयेत् ॥ श्लोक ५६ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र पर कल्लूक भट्ट कृतमन्वर्थमुक्तावली टिप्पणी ॥

४—तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम्।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥

श्लोक ५६ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

५—सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता।
मंत्रयेत्परमं मंत्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम् ॥

श्लोक ५८ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

मनु के मतानुसार, इस प्रकार, सामान्य सन्धि-विग्रह, स्थान, समुदय, रक्षा, जो प्राप्त है उस के विघ्नों के शमन के उपाय और षाड्गुण्ययुक्त परम मंत्र आदि विषय मंत्रणा के मुख्य विषय माने गए हैं।

मंत्रणा का स्थान—प्राचीन भारत के लगभग सभी आचार्यों ने मंत्र को राज्य का मूल माना है। मंत्र की रक्षा में राजा का कल्याण निहित माना गया है। इसीलिए इन आचार्यों ने मंत्र गुप्त रखने के अनेक उपायों एवं साधनों का उल्लेख किया है। मनु भी मंत्रगोपन पर बहुत बड़ा महत्त्व देते हैं। मंत्र के गुप्त रखने का महत्त्व बतलाते हुए वह इस प्रकार व्यवस्था देते हैं—जिसके मंत्र को अन्य मनुष्य उसके सम्पर्क में आने पर भी जान नहीं पाते वह राजा कोश हीन होकर दीन अवस्था में आजाने पर भी पृथ्वी (राज्य) को भोगता है। मंत्र का फूट जाना राज्य का नाश कारी होता है। इसलिए प्रत्येक प्रकार से सचेष्ट होकर मंत्र की रक्षा की जानी चाहिए।

मंत्र की रक्षा के अनेक साधनों में एक प्रमुख साधन मंत्रणा का सुरक्षित स्थान भी माना गया है। मानवधर्मशास्त्र में मंत्रणा के स्थानों का उल्लेख करते हुए बतलाया गया है कि मंत्रणा का स्थान ऐसा एकान्त और सुरक्षित होना चाहिए जिसमें मनुष्यों का ही नही वरन पशुपक्षियों का भी आज्ञा बिना प्रवेश न हो सके। मनु के विचार से ऐसे स्थान पर्वत का ऊपरी भाग जो निर्जन और एकान्त हो मंत्रणा करने का अच्छा स्थान समझा जाना चाहिए। राजप्रासाद भी इस कार्य के लिए उपयुक्त स्थान है। परन्तु वहां भी मनुष्यों तथा पशुपक्षियों का प्रवेश नही होना चाहिए। लम्बी घास, झाड़ी, वृक्ष से रहित वन में एकान्त स्थान भी मंत्रणा हेतु मनु ने उपयुक्त स्थान बतलाया है। जड़ मनुष्य, गूंगे, अन्धे, बहरे, अतिवृद्ध, स्त्री, म्लेच्छ, रोगी, अंगहीन तथा पशुपक्षियों को मंत्रणा के स्थान के समीप फटकने नहीं देना चाहिए।[३] यह लोग अपमानित होने पर मंत्र भेद कर देते हैं। इसी प्रकार शुक, सारिका

१—यस्य मंत्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः।
स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः॥
श्लोक १४८ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

२—गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः।
अरण्ये निःशलाके वा मंत्रयेदविभावितः॥
श्लोक १४७ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

३—जडमूकान्धबधिरांस्तैर्यग्योनान्वयोतिगान्।
स्त्री म्लेच्छव्याधितव्यङ्गान्मंत्रकालेऽपसारयेत्॥
श्लोक १४९ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

आदि पक्षी और विशेषकर स्त्री मंत्र भेदक होते हैं। इसलिए इन्हें आदर पूर्वक मंत्रणा के स्थान से दूर हटा देना चाहिए[1]।

इस प्रकार मनु के मतानुसार मंत्रणा के लिए विशेष स्थान होने चाहिए। यह स्थान इतने सुरक्षित होने चाहिए जिस से मंत्रभेद न होने पाए। मंत्र भेद से राजा का बहुत बड़ा अकल्याण होता है।

मंत्रणा का समय—मंत्रणा हर समय और हर स्थान पर नहीं की जा सकती। मंत्रणा पर समय का घनिष्ठ प्रभाव पड़ता है। असमय में की जाने वाली मंत्रणा दोष युक्त बनी रहती है और इसीलिए इस प्रकार की मंत्रणा फलवती नहीं होने पाती। इसीलिए मंत्रणा उचित समय पर ही की जानी चाहिए। सम्भवतः ऐसे ही विचारों से प्रेरित होकर मनु ने मंत्रणा का समय निर्धारित कर दिया है। मनु के मतानुसार मंत्रणा करने के सबसे उत्तम दो समय होते हैं। यह मध्याह्न और अर्धरात्रि के समय [2] है। मंत्रणा करने के समय मंत्रियों एवं राजा के चित्त खेद एवं शरीर के क्लेश से रहित होने चाहिए। [3] स्वस्थ और चिन्तारहित मस्तिष्क मंत्रणा के वास्तविक रहस्य तक पहुँचने में समर्थ होता है।

मंत्रणा करने की प्रणाली—मनु का मत है कि शासन सम्बन्धी प्रत्येक कार्य के आरम्भ किए जाने के पूर्व उस कार्य के गुण-दोषों की विवेचना भली भांति हो जानी चाहिए जिस से उस कार्य से सम्बन्धित दोषों का निराकरण किया जा सके। इस नियम के अनुसार शासन सम्बन्धी प्रत्येक विषय मंत्रिपरिषद् के सदस्यों के समक्ष उसकी विवेचना हेतु प्रस्तुत किया जाना चाहिए। मनु का मत है कि प्रत्येक विषय पर मंत्रिपरिषद् के सदस्यों का अलग अलग व्यक्तिगत मत लेना चाहिए इसके उपरान्त उन के सामूहिक मत को भी लेना चाहिए। ऐसा कर लेने के उपरान्त राजा को जिस मंत्रणा में अपना (राज्य) का कल्याण दिखलायी पड़े उस मंत्रणा के अनुसार उस विषय को कार्यान्वित करना चाहिए [4]। राज्य के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषयों में अन्तिम मंत्रणा

१—भिन्दन्त्यवमता मंत्रं तैर्यग्योनास्तथैव च।
स्त्रियश्चैव विशेषेण तस्मात्तत्रादृतो भवेत्॥

श्लोक १५० अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

२—मध्यंदिनेऽर्धरात्रे × ×॥ श्लोक १५१ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

३—विश्रान्तो विगतक्लमः॥ श्लोक १५१ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

४—तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक्।
समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः॥

श्लोक ५७ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

मन्त्रिपरिषद् के सर्व श्रेष्ठ ब्राह्मण मंत्री से लेना चाहिए और फिर उस मंत्रणा के अनुसार राजा को कार्य करना चाहिए[१] ।

इस प्रकार मनु मंत्रिपरिषद् के मंत्रियों के व्यक्तिगत एवं उनके सामूहिक मत के अनुसार जिस से राज्य का कल्याण हो कार्य सम्पादित करने के पक्ष में हैं । इस प्रणाली से मंत्रिपरिषद् के प्रत्येक सदस्य के मत का तो पता चल ही जाता है साथ ही उनके बहु मत का भी भलीभांति बोध हो जाता है जिस से राजा को प्रत्येक विषय में वास्तविक मंत्रणा मिल जाने का सुअवसर प्राप्त होता रहता है ।

१—सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता ।
मंत्रयेत्परमं मंत्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम् ।।
श्लोक ५८ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

अध्याय ४

न्याय-व्यवस्था

न्याय-व्यवस्था की आवश्यकता—संसार में शुचि मनुष्य दुर्लभ हैं ऐसा मनु का मत है[1]। काम, क्रोध, लोभ और मोहादि षड्वर्ग मनुष्य मात्र के सब से प्रबल शत्रु हैं। वह मनुष्य पर निरन्तर आक्रमण करते रहते हैं। इन शत्रुओं के वशीभूत होकर मनुष्य एक दूसरे के अधिकार क्षेत्र पर, आक्रमण करने का प्रयत्न करता है जिस का परिणाम पारस्परिक कलह का जन्म है। यह कलह प्राणियों के स्वधर्म पालन में विघ्न-बाधाएं उपस्थित करती रहती हैं जिसके कारण प्राणियों के जीवन संकट-ग्रस्त रहते हैं और वह अपने को कभी भी सुरक्षित नही समझते। इस लिए प्राणियों को उनके इस संकट से मुक्त करने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य-मनुष्य के मध्य होने वाली कलह के वास्तविक रूप को समझकर उसके मूल कारण का निराकरण किया जाना चाहिए। किस व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति के अधिकार हरण की चेष्टा की है और सो भी किस मात्रा में। उस व्यक्ति को उसकी इस अनधिकार चेष्टा के अनुसार दण्ड मिलना चाहिए और दूसरे व्यक्ति को उसके अधिकार के भोगने की सुविधा प्राप्त होनी चाहिए। बस इन्हीं समस्याओं को सुलझाने के हेतु न्याय-व्यवस्था की स्थापना की जाती है और अनेक प्रकार की छोटी-बड़ी न्याय-संस्थाओं का संघठन किया जाता है।

मनुष्य–मनुष्य के मध्य पारस्परिक अधिकारहरण सम्बन्धी जो विवाद खड़े होते हैं उनके निर्णयार्थ जो व्यवस्था की जाती है उसको भारत के प्राचीन साहित्य में व्यवहार नाम से सम्बोधित किया गया है। इसी परम्परा के अनुसार मनु ने भी इस व्यवस्था को व्यवहार नाम से सम्बोधित किया है। व्यवहार शब्द की प्राप्ति वि + अव + हार से होती है। वि का अर्थ है विविध, अव से संदेह और हर से हरण का बोध होता है। इस प्रकार व्यवहार से तात्पर्य उस कार्य से है जिसके द्वारा नाना प्रकार के संदेह दूर किए जा सकें। कात्यायन ने व्यवहार शब्द की व्याख्या करते हुए इस प्रकार लिखा है—वि नानार्थेऽव सन्देहे हरणं हार उच्यते। नानासंदेह हरणाद्व्यवहार इति

१—दुर्लभो हि शुचिर्नरः॥ श्लोक २२ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

स्मृतः। इस प्रकार राजा को अपनी प्रजा में, प्राणिमात्र को अपने अधिकारों को भोगने की अधिक से अधिक सुविधा प्राप्त हो सके, व्यवहारों के अवलोकन करने के हेतु न्याय-व्यवस्था की स्थापना की परमआवश्यकता होती है। इसीलिए मनु ने ऐसे राजा को मृतक के समान माना है जो अपने अधीन प्रजा के अधिकारों की रक्षा करने में असमर्थ होता है। मनु इस विषय में यह स्पष्ट व्यवस्था देते हैं--भृत्यों (राज कर्मचारियों) के सहित जिस राजा के देखते हुए बिलखती हुई प्रजा चारों ओर से लूटी जाती है वह राजा जीवित नहीं वरन् मृतक है।[1] इस लिए मनुष्यों के मध्य पारस्परिक अधिकारहरण सम्बन्धी प्रवृत्ति को रोकने के लिए न्याय-व्यवस्था की स्थापना की परम आवश्यकता होती है।

व्यवहार के मार्ग—व्यवहार के अनेक विषय होते हैं। मानवधर्मशास्त्र में व्यवहार के अट्ठारह मार्ग बतलाए गए हैं। व्यवहार के यह अट्ठारह मार्ग ऋण लेकर न देना अथवा बिना दिए मांगना, निक्षेप (धरोहर), बिना स्वामी हुए किसी वस्तु का विक्रय, साझे का व्यवहार, दिए हुए दान को वापस लेना, वेतन का न देना, प्रतिज्ञाभंग करना, क्रय-विक्रय सम्बन्धी विवाद, पशु स्वामी और पशुपाल का विवाद, सीमा विवाद, कठोर वचन का प्रयोग, मारपीट, चोरी, डाका, पर स्त्रीहरण, स्त्री पुरुष के धर्म की व्यवस्था, दायभाग, और द्यूत यह व्यवहार के अट्ठारह मार्ग माने गए हैं।[2]

१—विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद्ध्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः।
संपश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति॥
श्लोक १४३ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

२—तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः।
संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च॥
श्लोक ४ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः।
क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः॥
श्लोक ५ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च॥
श्लोक ६ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह॥
श्लोक ७ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

इस प्रकार मानवधर्मशास्त्र में व्यवहार के उपर्युक्त अट्ठारह मार्ग बतलाए गए हैं और इन्हीं विषयों की विवादग्रस्त समस्याओं के निर्णय हेतु न्याय-व्यवस्था की स्थापना का आदेश मनु ने दिया है।

धर्मसभा—मानवधर्मशास्त्र में विभिन्न प्रकार की न्याय-संस्थाओं का उल्लेख नहीं है। केवल एक ही प्रकार की न्याय-संस्था का वर्णन प्राप्त है। इस लिए यहाँ उसका वर्णन जैसा कि मानव धर्मशास्त्र में प्राप्त है दिया जाएगा। मानवधर्मशास्त्र में जो वर्णन प्राप्त है उससे ज्ञात होता है कि व्यवहारों के अवलोकन हेतु एक सभा होती थी[१]। यह सभा ही अपना निर्णय देती थी और वह निर्णय कार्यान्वित होता था।

इस सभा में एक धर्माध्यक्ष होता था जिसको मानवधर्मशास्त्र में धर्माध्यक्ष अथवा धर्मस्थ नाम से सम्बोधित किया गया है[२]। धर्माध्यक्ष अथवा धर्मस्थ के पद पर राजा आरूढ़ होता था[३]। राजा की अनुपस्थिति में इस पद पर राजा द्वारा नियुक्त किया हुआ विद्वान ब्राह्मण उस आसन को ग्रहण करता था[४]। यह ब्राह्मण कौन होता था इसके विषय में इस प्रसंग में स्पष्ट बतलाया नहीं गया है। परन्तु ऐसा विदित होता है कि यह ब्राह्मण मंत्रिपरिषद् का सर्व श्रेष्ठ ब्राह्मण मंत्री होता होगा। यह वही ब्राह्मण मंत्री होता होगा जिसका उल्लेख मानवधर्मशास्त्र के सप्तम अध्याय श्लोक संख्या ५८ में किया गया है[५]।

१—व्यवहारान्दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः।
मंत्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम्॥
श्लोक १ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

२—साक्षिणः सन्ति मेत्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेन्न यः।
धर्मस्थः कारणैरेतैर्हीनं तमपि निर्दिशेत्॥
श्लोक ५७ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

३—धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः।
प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत्॥
श्लोक २३ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

४—यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम्।
तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने॥
श्लोक ९ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

५—सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता।
मंत्रयेत्परमं मंत्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम्॥
श्लोक ५८ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

मानवधर्मशास्त्र में धर्मसभा के विषय में जो वर्णन प्राप्त है उसके आधार पर यह विदित होता है कि यह सभाएँ कम से कम दो प्रकार की अवश्य रही होंगी। प्रथम उस सभा की ओर संकेत किया गया है जिसमें राजा कतिपय ब्राह्मणों और मंत्र के ज्ञाता मंत्रियों के परामर्श से व्यवहारों का अवलोकन करता था।[1] दूसरी प्रकार की सभा के विषय में इस प्रकार वर्णन उपलब्ध है—जब राजा आप कार्य अवलोकन करने में असमर्थ हो (अधिक कार्य के कारण अथवा अस्वस्थ होने आदि के कारण) तो राजा को अपने स्थान में एक विद्वान ब्राह्मण को व्यवहार अवलोकन हेतु नियुक्त करना चाहिए। उस ब्राह्मण को तीन सभ्यों के साथ सभा में बैठकर राजा के द्वारा किए जाने वाले समस्त कार्यों का अवलोकन करना चाहिए।[2] इसी प्रसंग में यह व्यवस्था भी दी गयी है कि जिस स्थान पर वेद के ज्ञाता तीन ब्राह्मण और राजा द्वारा अधिकृत एक विद्वान ब्राह्मण बैठकर व्यवहार अवलोकन करते है वह स्थान सभा के नाम से सम्बोधित किया जाता है[3]। इस प्रकार मानवधर्मशास्त्र में इन दो प्रकार की धर्मसभाओं की ओर संकेत किया गया है। परन्तु इन सभाओं के विषय में जो वर्णन उपलब्ध है उससे इस विषय का लेशमात्र भी बोध नही होता है कि इन सभाओं के अधिकारों में क्या अन्तर था।

मानवधर्मशास्त्र में एक स्थल पर यह भी वर्णन मिलता है कि प्राड्विवाक नाम का एक अधिकारी सभा में होता था जिसका कर्तव्य अर्थी, प्रत्यर्थी एवं साक्षी आदि से प्रस्तुत वाद सम्बन्धी वांच्छनीय सामग्री को उनसे प्राप्त करना है। इस विषय में मानवधर्मशास्त्र में इस प्रकार का वर्णन प्राप्त है—सभा में प्राप्त हुए साक्षियों से अर्थी और प्रत्यर्थी के समक्ष प्राड्विवाक

१—व्यवहारान्दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः।
मंत्रज्ञैर्मंत्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम्॥

श्लोक १ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

२—यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम्।
तदानियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने॥

श्लोक ९ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः।
सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थित एव वा॥

श्लोक १० अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

३—यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः।
राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान् ब्राह्मणस्तां सभा विदुः॥

श्लोक ११ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

को सान्त्वना देकर साक्षी से इस प्रकार पूछना चाहिए कि इन दोनों (अर्थी और प्रत्यर्थी) ने परस्पर इस कार्य में जो कुछ किया हो उसके विषय में तुम जो कुछ जानते हो वह सम्पूर्ण सत्य-सत्य बतलाओ क्योंकि तुम्हारी इसमें साक्ष्य है।[१] इस प्रकार सभा में प्राड्विवाक नाम का एक अधिकारी भी होता था।

सभासदों की योग्यता—धर्म सभा के सदस्यों की योग्यता के विषय में मानवधर्मशास्त्र में विशेष वर्णन उपलब्ध नहीं ह। परन्तु कतिपय ऐसे संकेत किए गए हैं जिनके आधार पर सदस्यों की योग्यता सम्बन्धी कुछ परिचय हो जाता है। धर्मसभा का अध्यक्ष जिसको मानवधर्मशास्त्र में धर्मस्थ कहा गया है अत्यन्त विद्वान ब्राह्मण होता था।[२] इसलिए इस पद के लिए विद्वता एव पवित्र आचरण की परम आवश्यकता मानी गयी है। इस सभा के जो सभ्य होते थे उनको तीनों वेदों का पण्डित होना चाहिए।[३]

धर्मसभा के समस्त सदस्यों को धर्म के वास्तविक स्वरूप का पूर्ण ज्ञाता होना चाहिए जिससे वह धर्म और अधर्म के रहस्य को जान कर इन दोनों के बीच विवेचना पूर्वक धर्म का प्रतिपादन कर सकें। मानवधर्मशास्त्र में दी गयी यह व्यवस्था कि जिस सभा में धर्म को अधर्म से बीधा जाता है और शल्य को जो सभासद् नहीं निकालते तो उसी अधर्म रूप शल्य से वह सभासद् स्वय बिंधते हैं,[४] इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं कि सभासदों को धर्म और अधर्म के स्वरूप को पहचानने की विशेष योग्यता धारण करनी चाहिए जिस से वह इन दोनों के वास्तविक स्वरूप को समझकर धर्म पूर्ण निर्णय दे सकें। मानवधर्मशास्त्र में इस प्रसंग में यह स्पष्ट बतलाया गया है कि या तो सभा

१—सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ ।
प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिनाऽनेन सान्त्वयन् ॥
श्लोक ७९ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

यद्द्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिंश्चेष्टितं मिथः ।
तद् ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥
श्लोक ८० अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—तदानियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥
श्लोक ९ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

३—यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः ॥
श्लोक ११ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

४—धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥
श्लोक १२ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

में जाना ही नहीं चाहिए और वहां जाए तो सत्य ही बोलना चाहिए। सभा में जाकर यदि वह मौन रहता है अथवा असत्य भाषण करता है तो उस सभासद को महान पाप होता है।[१] जिस सभा में सभासदों के देखते हुए धर्म अधर्म से और सत्य असत्य से नष्ट होता है उस सभा के सभासद नाश को प्राप्त होते हैं।[२] उपर्युक्त इस व्यवस्था के अनुसार दो सिद्धान्तों की स्थापना होती है एक यह कि सभा के सदस्यों को इतना ज्ञानवान होना चाहिए कि वह धर्म और अधर्म एवं सत्य और असत्य के वास्तविक स्वरूप को जान सकें। दूसरा यह कि उनका चरित्र इतना पवित्र एवं उच्च होना चाहिए कि वह किसी प्रकार के भी प्रभाव में न आएँ और सदैव धर्म को धर्म, अधर्म को अधर्म, सत्य को सत्य और असत्य को असत्य घोषित करने की सामर्थ्य रखते हुए धर्म पूर्ण निर्णय देते रहें। इस लिए धर्मसभा की सदस्यता के लिए उत्कृष्ट ज्ञान, और सदाचरण की विशेष मात्रा की योग्यता का धारण करना परम आवश्यक माना गया है। धर्म सभा के प्रत्येक सभासद का परम कर्तव्य विवादग्रस्त विषयों में धर्मयुक्त निर्णय देना होता है। यदि वह अपने इस कर्त्तव्य से च्युत होते हैं तो वह भी पाप के भागी माने गए हैं। इसी प्रसंग में इस सिद्धान्त की स्थापना करते हुए मानवधर्मशास्त्र में यह व्यवस्था दी गयी है—यदि धर्म सभा में किसी विवादग्रस्त विषय में अनृत अथवा अधर्मपूर्ण निर्णय दिया जाता है तो जो पापाचरण हुआ है उसका चौथायी भागमात्र पापकर्त्ता को होता है शेष तीन भागों में एक भाग राजा को, एक भाग अनृत साक्ष्य देनेवाले को और अवशेष एक भाग सभासदों को होता है।[३] परन्तु जिस सभा में असत्यवादी अथवा पापकर्त्ता के पाप के अनुसार वास्तविक निर्णय दिया जाता है, उस सभा में राजा (धर्मस्थ) और सभासद दोनों निष्पाप हो जाते हैं और पापकर्त्ता को ही पाप लगता है।[४]

१—सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम्।
अब्रुवन्विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्विषी॥
श्लोक १३ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

२—यत्र धर्मो ह्यऽधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः॥
श्लोक १४ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

३—पादोऽधर्मस्य कर्त्तारं पादः साक्षिणमृच्छति।
पादः सभासदः सर्वान् पादो राजानमृच्छति॥
श्लोक १८ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

४—राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः।
एनो गच्छति कर्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते॥
श्लोक १९ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

मानवधर्मशास्त्र में वर्णित इस मत का महाभारतकार ने भी इसी रूप में समर्थन किया है। महाभारतकार का मत है कि अधर्म से बिधा हुआ धर्म जिस सभा में होता है उसके कण्टक को अधर्म से बिधे हुए सभासद निकालने में समर्थ नहीं हो सकते। ऐसी सभा में जो सभा का अध्यक्ष होता है उसको पाप का आधा भाग लगता है। आधे का आधा इस पाप के करने वाले को और अवशेष चौथाई पाप उन सभासदों को लगता है जो सभा में बैठकर निन्दित पुरुष की निन्दा नहीं करते हैं।[1] जिस सभा में निन्दा किए जाने योग्य व्यक्ति की निन्दा की जाती है उस सभा में अध्यक्ष और सभासद दोनों पाप से मुक्त हो जाते हैं और सम्पूर्ण पाप कर्त्ता को ही भोगना पड़ता है।[2] महाभारत के उद्योग पर्व में सभासद की परिभाषा करते हुए विदुर ने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—मेरे मत से वह सभा नहीं मानी जा सकती जिसमें वृद्ध पुरुष न हों, वह वृद्ध पुरुष नहीं कहे जा सकते जो धर्म की बात न कहते हों, वह धर्म नहीं है जिसमें सत्य का अभाव हो और वह सत्य नही है जो छल युक्त हो।[3] भीष्म के मतानुसार सभासदों को मर्यादावान, आत्मविजयी, सत्यवादी, सरल स्वभाव, निर्भीक और स्पष्टवादी होना चाहिए।[4]

मानवधर्मशास्त्र में धर्म सभा की सदस्यता के लिए उच्च कोटि के

१—विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्रोपपद्यते।
न चाऽस्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः॥

श्लोक ७८ अ० ६८ सभा पर्व॥

अर्धं हरति वै श्रेष्ठः पादो भवति कर्तृषु।
पादश्चैव सभासत्सु ये न निन्दन्ति निन्दितम्॥

श्लोक ७९ अ० ६८ सभा पर्व॥

२—अनेन भवति श्रेष्ठो मुच्यन्ते च सभासदः।
येनो गच्छति कर्त्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते॥

श्लोक ८० अ० ६८ सभा पर्व॥

३—न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत्सत्यम् यच्छलेनाभ्युपेतम्॥

श्लोक ५८ अ० ३५ उद्योगपर्व।

४—ह्रीनिषेवास्तथा दान्ताः सत्यार्जवसमन्विताः।
शक्ताः कथयितुं सम्यक्ते तव स्युः सभासदाः॥

श्लोक २ अ० ८३ शा० पर्व।

मनोविज्ञान सम्बन्धी ज्ञान की प्राप्ति अनिवार्य मानी गयी है। मनुष्य के इङ्गित, आकार, रंग, चेष्टा आदि से ही दोषी अथवा निर्दोषी का बोध हो जाना चाहिए। इस विषय में मानवधर्मशास्त्र में इस प्रकार व्यवस्था दी गयी है—(धर्मासन पर बैठे हुए राजा को) मनुष्य के बाहर के लक्षण स्वर और वर्ण एवं नीचे ऊपर देखना, पसीना, रोमाञ्च और चक्षु तथा चेष्टा से उसके भीतरी भाव को समझ लेना चाहिए।[१] आकार, सकेत, गति, चेष्टा, भाषण, और नेत्र तथा मुख के विकारों से मन का भाव जान लेना चाहिए।[२] इस प्रकार धर्मस्थ एवं सदस्यों को उच्च कोटि का मनोवैज्ञानी होना आवश्यक था।

सभासदों को जातिधर्म, देशधर्म, श्रेणीधर्म, कुलधर्म, सदाचरण की परिधि आदि का विशाल ज्ञान होना चाहिए क्योंकि सभा को इन धर्मों के अनुसार निर्णय देना होता था। इस विषय में भी मानवधर्मशास्त्र में ऐसी व्यवस्था दी गयी है—जातिधर्म, देशधर्म, श्रेणीधर्म और कुलधर्म को भली भाँति देखकर उनका प्रतिपादन करना चाहिए,[३] और धार्मिक द्विजातियों द्वारा जो आचरण धारण किया जा चुका है और जो देशधर्म, जातिधर्म और कुलधर्म के विरुद्ध नहीं है इस प्रकार का निर्णय व्यवहार में देना चाहिए।[४]

इसके अतिरिक्त सभासदों को देश और काल का ज्ञाता होना चाहिए। क्योंकि उन्हें देश और काल को देखकर निर्णय देने का आदेश मानवधर्मशास्त्र में किया गया है।[५]

१—बाह्यैर्विभावयेल्लिङ्गैर्भावमन्तर्गतं नृणाम् ॥
स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥
श्लोक २५ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥
श्लोक २६ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

३—जातिजानपदान्धर्माञ्छ्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥
श्लोक ४१ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

४—सद्भिराचरितं यत्स्याद्धार्मिकैश्च द्विजातिभिः।
तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥
श्लोक ४६ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

५—देशं रूपं च कालं च व्यवहारविधौ स्थितः ॥
श्लोक ४५ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

इस प्रकार सभासद को वेदों का प्रकाण्ड विद्वान, विविध विषयों का ज्ञाता सदाचारी, मनोवैज्ञानिक, सत्यपरायण, स्पष्टवादी, निर्भीक, विविध धर्मों का ज्ञाता और देश एवं कालवित् होना चाहिए, इस प्रकार की व्यवस्था मानवधर्मशास्त्र में दी गयी है ।

धर्म सभा में शिष्टाचार—धर्म सभा में अध्यक्ष अथवा मुख्य न्यायाधीश का आसन धर्मासन कहलाता था । वह इसी आसन पर बैठकर अर्थी, प्रत्यर्थी एवं साक्षी आदि के कथन को सुनता था और सभासदों के परामर्श से निर्णय देता था । मानवधर्मशास्त्र में यह व्यवस्था दी गयी है कि राजा अथवा उसकी अनुपस्थिति काल में धर्म सभा में उसके आसन को ग्रहण करने वाले व्यक्ति को वस्त्रों से सुवेष्टित होकर सभा में प्रवेश कर धर्मासन पर बैठना चाहिए [1]। इसी विषय में दूसरे स्थल पर राजा को वेष एवं आभूषण धारण कर सभा में धर्मासन पर आसीन होकर व्यवहारों को सुनना चाहिए, ऐसा आदेश दिया गया है ।[2] मानव धर्मशास्त्र में जो यह वर्णन प्राप्त है इसके आधार पर यह ज्ञात होता है कि सभा में सभासदों को भी भली भाँति आभूषण एवं वस्त्र धारण कर व्यवहारों को सुनने के लिए जाना पड़ता था । इसलिए सबसे प्रथम यह बात थी कि सभा के सभासदों को नियमानुसार वस्त्राभूषण धारण कर सभा में प्रवेश करना पड़ता था ।

सभा के अध्यक्ष एवं अन्य सभासदों को विनीतभाव को धारण कर व्यवहार का अवलोकन करना पड़ता था । व्यवहारों के अवलोकन करने के कार्य को प्रारम्भ करते समय सभाध्यक्ष को लोकपालों को प्रणाम करने कीप्रथा थी ।[3]

प्रतिभू रखने की प्रणाली—मानवधर्मशास्त्र में इस विषय का उल्लेख है कि यदि अर्थी, प्रत्यर्थी अथवा साक्षी आदि में से किसी की उपस्थिति न्यायालय सन्देहजनक समझता हो तो उस व्यक्ति को न्यायालय (सभा) में उपस्थित करने के लिए अथवा सभा द्वारा दिए गए निर्णय के पालन में संदेह देख पड़ता हो तो ऐसी दशा में (यदि न्यायालय चाहे तो) इन व्यक्तियों में से किसी भी व्यक्ति से प्रतिभू मांगा जा सकता था । प्रतिभू का इस लिए एकमात्र कार्य यह था कि वह जिसका प्रतिभू बना है उसको न्यायालय में समय पर उपस्थित करे

१—धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः ।।

श्लोक २३ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ।।

२—विनीतवेषाभरणः पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ।।

श्लोक २ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ।।

३—प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत् ।।

श्लोक २३ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ।।

और यदि वह ऋण अथवा दण्ड का रुपया वादी, प्रतिवादी अथवा साक्षी से किसी नियत समय अथवा स्थान पर भुगतान कराने के लिए वह प्रतिभू बना है तो उस पर उस ऋण अथवा दण्ड के रुपये के भुगतान का पूर्ण दायित्व रहता था। यदि वह व्यक्ति जिसका वह प्रतिभू बना है निर्धारित ऋण अथवा दण्ड के धन का भुगतान नही करता तो उसके प्रतिभू को उस सम्पूर्ण धन या ऋण का भुगतान करना पड़ता था। इसीलिए मानवधर्म शास्त्र में ऐसा कहा गया है कि तीन दूसरों के लिए क्लेश पाते हैं— साक्षी, प्रतिभू तथा कुल।[१]

प्रतिभू के कर्त्तव्य सम्बन्धी कतिपय नियमों का भी उल्लेख मानवधर्मशास्त्र में किया गया है। इससे यह विदित होता है कि मानवधर्मशास्त्र के रचना काल में प्रतिभू के नियुक्त किए जाने का प्रचलन था। प्रतिभू सम्बधी कतिपय नियमों का उल्लेख मानवधर्मशास्त्र में इस प्रकार किया गया है—जो मनुष्य जिस व्यक्ति को (सभा में) उपस्थित करने के निमित्त प्रतिभू नियत किया गया है यदि वह प्रतिभू उस व्यक्ति को (निर्धारित समय और स्थान पर) उपस्थित नहीं करता है तो उस पुरुष को अपने पास से उस ऋण का धन देना होगा जोकि उस व्यक्ति पर (सभा द्वारा निर्धारित किया गया) है जिसका कि वह पुरुष प्रतिभू बनाया गया है।[२] उपस्थित कर देने मात्र के लिए जो व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति का प्रतिभू बना है और वह उसको उपस्थित न कर सका ऐसी अवस्था में प्रतिभू होने के धन का भुगतान उस प्रतिभू के मरने के उपरान्त उसके पुत्रों से कराया जाना उचित नही है। इस प्रसंग में यह व्यवस्था दी गयी है— प्रतिभाव्य धन, वृथा दान, मद्यपान का धन, दण्ड और शुल्क का अवशेष धन (पिता के मरने के उपरान्त) पुत्र देने योग्य नहीं है।[३] यह नियम केवल उस अवस्था में मान्य समझा गया है जब कि प्रतिभू उस व्यक्ति को जिसका कि वह प्रतिभू है उपस्थित करने मात्र के लिए प्रतिभू नियत किया गया है।[४] परन्तु यदि जो धन किसी व्यक्ति पर देय है और उसके भुगतान हेतु जिसने प्रतिभू बनना अंगीकार कर लिया है तो ऐसे अदाता व्यक्ति के प्रतिभू के करने पर

१—त्रयः परार्थे क्लिश्यन्ति साक्षिणः प्रतिभूः कुलम् ॥

श्लोक १६९ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—यो यस्य प्रतिभूस्तिष्ठेद्दर्शनायेह मानवः।
अदर्शयन् स तं तस्य प्रयच्छेत्स्वधनादृणम् ॥

श्लोक १५८ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

३—प्रातिभाव्यं वृथादानमाक्षिकं सौरिकं च यत्।
दण्डशुल्कावशेषं च न पुत्रो दातुमर्हति ॥

श्लोक १५९ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

४—दर्शनप्रातिभाव्ये तु विधिः स्यात्पूर्वचोदितः ॥

श्लोक १६० अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

उस प्रतिभू के दाय भागियों को वह देयधन देना पड़ेगा ऐसा मनु का आदेश है।[1]

अदाता प्रतिभू (जिसने किसी व्यक्ति विशेष को उपस्थिति करने मात्र की प्रतिज्ञा की है) हो और जिसके प्रतिभू सम्बन्धी प्रतिज्ञा को दाता जानता भी है तो ऐसे प्रतिभू के करने पर उस से दाता (महाजन) अपना धन प्राप्त कैसे कर सकता है अर्थात् वह महाजन अपना धन प्रतिभू के मरने के उपरान्त उसके दाय-भागियों से प्राप्त करने का अधिकारी नहीं माना गया है।[2] यदि प्रतिभू को, वह व्यक्ति जिसका वह प्रतिभू बना है, धन सौंपा गया हो और इस हेतु प्रतिभू केपास वह धन हो परन्तु उस व्यक्ति ने प्रतिभू को मरते समय यह आज्ञा न दी हो कि वह उस धन में से महाजन का धन दे दे तो प्रतिभू को उस महाजन को अपने पास के धन से उसका ऋण चुका देना चाहिये ऐसा मनु ने निर्णय दिया है।[3]

इस प्रकार मानवधर्मशास्त्र मे प्रतिभू से सम्बन्धित विविध धर्मो का जो वर्णन प्राप्त है वह यह प्रकट करता है कि व्यवहार (न्याय) क्षेत्र में प्रतिभू नियत किये जाने का प्रचलन सर्व साधारण में था।

अभियोगों के प्रस्तुत किये जाने का क्रम--महत्त्व के अनुसार व्यवहारों का अवलोकन किया जाता था अर्थात जो अभियोग जितना ही महत्त्वपूर्ण होता था उसके अवलोकन हेतु उतनी ही प्रथम सुविधा दी जाती थी। इस विषय में मनु इस प्रकार व्यवस्था देते हैं--अर्थ या अनर्थ दोनों को तथा धर्म और अधर्म को जानकर कार्य का अवलोकन करना चाहिये।[4] इस विषय में दूसरा सिद्धान्त यह था कि वर्ण के क्रम के अनुसार व्यवहारों को सुना जाता था। इस विषय में भी मानवधर्मशास्त्र में यह आदेश दिया गया है कि राजा को वर्ण क्रम से कार्य

१—दानप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत् ॥

श्लोक १६० अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—अदातरि पुनर्दाता विज्ञातप्रकृतावृणम् ।

पश्चात्प्रतिभुवि प्रेते परीप्सेत्केन हेतुना ॥

श्लोक १६१ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

३—निरादिष्टधनश्चेत्तु प्रतिभूः स्यादलंधनः ।

स्वधनादेव तद्दद्यान्निरादिष्ट इति स्थितिः ॥

श्लोक १६२ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

४—अर्थानर्थावुभौ बुद्ध्वा धर्माधर्मौ च केवलौ ॥

श्लोक २४ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

का अवलोकन करना चाहिये[१] अर्थात पहले ब्राह्मण का, फिर क्षत्रिय का, तत्पश्चात वैश्य का और अन्त में शूद्र वर्ण का व्यवहार अवलोकन करना उचित होगा। वर्णक्रम के अनुसार व्यवहारों का अवलोकन करने का मनु ने जो आदेश दिया है उसके अन्तस्तल में यह भाव गुप्त रूप से निहित है कि ब्राह्मण का सम्बन्ध ब्रह्म से रहता है अतः उसके कार्यों में विलम्ब होने से बड़ी बाधा उपस्थित हो सकती है। उसका कार्य परम महत्त्वमय होता है। इसी प्रकार उसके उपरान्त क्षत्रिय का फिर वैश्य और तत्पश्चात शूद्र के कार्य का महत्त्व माना गया है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण धर्म का प्रति निधि माना गया है अतः उसको प्रत्येक प्रकार की सुविधा मिलनी चाहिये जिससे राज्य मे वह धर्म के मार्ग का प्रदर्शन करने में समर्थ हो सके। सम्भवतः इसी प्रकार के विचारों से प्रभावित होकर मनु ने यह व्यवस्था दी है।

प्रमाण——यदि कोई विषय विवादपूर्ण है तो उसके वास्तविक स्वरूप का बोध तभी हो सकने की सम्भावना है जब कि उस विवाद-ग्रस्त विषय के पक्ष और विपक्ष के समर्थकों के पुष्ट प्रमाणों पर भली भाँति विचार कर लिया जाये। इसलिये व्यवहार अवलोकन कार्य में प्रमाणों पर निर्भर रहना आवश्यक माना गया है। मानवधर्मशास्त्र के अनुसार यह प्रमाण मुख्य दो वर्गों में विभक्त किये गये हैं। प्रथम प्रकार के वह प्रमाण माने गये हैं जिन्हें मानवधर्मशास्त्र में मानुष प्रमाण के नाम से सम्बोधित किया गया है। दूसरे प्रकार के प्रमाणों को दिव्य प्रमाण नाम से वर्णन किया गया है।

मानुष प्रमाणों को मुख्य तीन कोटि में परिगणित किया गया है। इन्हें लिखित प्रमाण (Documentary evidences), भुक्ति प्रमाण (possession evidences), और साक्ष्य प्रमाण (witness evidences) माना गया है। दिव्य प्रमाणों का प्रयोग उस अवस्था में किया जाना उचित समझा गया है जब कि मानुष प्रमाणों का अभाव हो। अब यहाँ पर इन विभिन्न प्रमाणों का मानवधर्मशास्त्र के अनुसार वर्णन किया जाएगा।

(अ) लिखित प्रमाण——विवादग्रस्त विषयों के निर्णय में लिखित कोटि के प्रमाणों पर जितनी आस्था रहती है उतनी आस्था अन्य प्रकार के प्रमाणों (भोग, साक्षी) पर लोगों की नही होती है। लिखित प्रमाण सम्बन्धी इस प्रकार की आस्था सम्भवतः प्रत्येक युग की जनता में रही है। आधुनिक युग में तो इस कोटि के प्रमाणों का बहुत बड़ा महत्त्व है। न्यायालय किसी विवाद-ग्रस्त विषय में यदि एक भी छलरहित लिखित प्रमाण (genuine documentary evidence) जिस पक्ष में प्राप्त हो जाता है उस पक्ष के विरुद्ध चाहे जितने

१——वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥

श्लोक २४ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

अन्य प्रमाण (भोग और साक्षी) उपलब्ध होने पर भी निर्णय लिखित प्रमाण के पक्ष में ही होता है।

मानवधर्मशास्त्र में भी लिखित प्रमाण में आस्था रखनी चाहिये इस ओर कुछ संकेत मिलते हैं। परन्तु मनु ने इस कोटि के प्रमाणों का वर्णन नहीं किया है, इसलिए इस विषय पर विशेष प्रकाश डाला नहीं जा सकता। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि मानवधर्मशास्त्र के रचनाकाल में लिखित प्रमाण भी होते थे और व्यवहार अवलोकन करते समय सभा उन्हें प्रमाण मानकर उनके अनुसार निर्णय देती थी। धर्म सभामें इस प्रकार के प्रमाण पर विशेष आस्था रहती थी इस सिद्धान्त की पुष्टि में मानवधर्मशास्त्र में एक व्यवस्था दी गयी है। यह व्यवस्था इस प्रकार है—बलपूर्वक लिखवाये गये विषय को मनु नहीं के बराबर मानते हैं।[1] अर्थात् जिस लेख को बलपूर्वक (under the influence of force) लिखवाया गया हो वह प्रमाण कोटि में नहीं रक्खा जा सकता। मनु द्वारा दी गयी इस व्यवस्था से ऐसा प्रकट होता है कि मानवधर्मशास्त्र के रचना काल में भी लिखित प्रमाण पर अन्य कोटि के प्रमाणों की अपेक्षा अधिक आस्था थी। इसीलिए सम्भवतः लोग इस ओर प्रयत्न करते थे कि वह किसी प्रकार लिखित प्रमाण अपने पक्ष में प्राप्त कर लें जिसके प्राप्त कर लेने से उनके पक्ष की विजय निश्चित हो जायेगी। इसलिए ऐसे लेखों के लिखाने में लोग बल का प्रयोग भी करने लग गए थे। और यह कुचलन इस सीमा तक पहुँच गया था कि मनु जैसे विधि-प्रणेता को इस प्रकार के लेखों के अवैध घोषित करने की आवश्यकता अनुभव करनी पड़ी थी।

लिखित प्रमाण के विषय में शुक्र ने विशेष प्रकाश डाला है। उन्होंने भी लिखित प्रमाण को अन्य कोटि के प्रमाणों में सर्वोच्च स्थान दिया है। शुक्र के मतानुसार लिखित प्रमाण के अन्तर्गत राजकीय और लौकिक दोनों प्रकार के लेख माने गए हैं। यह दोनों प्रकार के लेख स्वहस्त लिखित अथवा परहस्त लिखित दोनों प्रकार के हो सकते हैं।[2] इन दोनों प्रकार के लेखों की प्रामाणिकता साक्षी वा बिना साक्षी दोनों प्रकार से मानी गयी है। इसमें देश-का लका विचार करना पड़ता था। भोग, दान, क्रिया, आधान, संवित, दास और ऋण यह सात

१—बलाद्दत्तं बलाद्भुक्तं बलाद्यच्चापि लेखितम्।
सर्वान्बलकृतानर्थानकृतान्मनुरब्रवीत ॥
श्लोक १६८ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—राजकीयं लौकिकं च द्विविधं लिखितं स्मृतम्।
स्वहस्तलिखितं वान्यहस्तेनापि विलेखितम् ॥
श्लोक ६८६ अ० ४ शुक्रनीति ॥

बातें लौकिक लेख में होती थीं। शासन, ज्ञापन और निर्णय यह तीन बातें राजकीय लेख के अन्तर्गत मानी गयी हैं।[१] राजा के हाथ से लिखा हुआ, राजा की मुद्रा चिन्ह से अंकित तथा राजा के मंत्री आदि की मुद्रा से अंकित लेख राजकीय लेख कहलाता था।[२] निर्णय पत्र में काल वर्ष, मास, पक्ष, तिथि, समय, प्रदेश विषय, स्थान, जाति, आकृति, आयु, साध्य, प्रमाण, द्रव्य, संख्या, अपना नाम, राजा का नाम, वादी, प्रतिवादी के निवास, साध्य का नाम, पिता पितामहों का नाम तथा मुद्रा आदि के चिन्ह एक ओर आग्रह पूर्वक राजा को निर्णय पत्र पर लिखा देने चाहिए।[३], जिस लेख में यह उपर्युक्त बातें लिखी नहीं गयी हों शुक्र के मतानुसार वह पत्र अप्रमाणिक माना जाता था। क्रम से रहित विपरीत अर्थ वाला, प्रकीर्ण अभिप्राय से संयुक्त, निरर्थक[४] अथवा समय के बाहर लिखा

१—आसाक्षिमत्साक्षिमच्च सिद्धिर्देशस्थितेस्तयोः।
भोगदान क्रियाधान संविद्दास ऋणादिभिः॥
श्लोक ६९० अ० ४ शुक्रनीति॥

सप्तधा लौकिकं चैतत्त्रिविधं राजशासनम्।
शासनार्थं ज्ञापनार्थं निर्णयार्थं तृतीयकम्॥
श्लोक ६९१ अ० ४ शुक्रनीति॥

२—राज्ञास्वहस्त संयुक्तं स्वमुद्राचिन्हितं तथा।
राजकीयंस्मृतं लेख्यं प्रकृतिभिश्च मुद्रितम्॥
श्लोक ६९२ अ० ४ शुक्रनीति॥

३—निवेश्य कालं वर्षं च मासं पक्षं तिथिं तथा।
वेला प्रदेशं विषय स्थानं जात्याकृतिवयः॥
श्लोक ६९३ अ० ४ शुक्रनीति।।

साध्यं प्रमाणं द्रव्यं च संख्यां नाम तथात्मनः।
राज्ञां च क्रमशोनाम निवासं साध्यनाम च॥
श्लोक ६९४ अ० ४ शुक्रनीति॥

क्रमात्पितृणां नामानि पितामह तृतीयकम्।
क्षमालिंगानि चान्यानिपक्षे संकीर्त्य लेखयेत्॥
श्लोक ६९५ अ० ४ शुक्रनीति॥

४—यत्रैतानि न लिख्यन्ते हीनं लेख्यं तदुच्यते।
भिन्नक्रमंव्युत्क्रमार्थं प्रकीर्णार्थं निरर्थकम्॥
श्लोक ६९६ अ० ४ शुक्रनीति॥

हुआ (time barred) लेख अमान्य माना गया है। ऐसा लेख अपने साध्य की सिद्धि में पर्याप्त साधन नहीं माना जा सकता। जो लेख अप्रगल्भ तथा स्त्री ने लिखा हो उस लेख को अप्रमाणित माना गया है। मनु की भाँति शुक्र ने भी बल पूर्वक लिखवाए गए लेख को अप्रमाण कोटि में परिगणित किया है।[१] शुक्र के मतानुसार केवल वह लेख व्यवहार कार्य में प्रमाणित माना गया है जिस लेख को सज्जनों ने लिखा हो, जिस पर साक्षी हों, जिसमें भोग का प्रमाण हो अथवा जिसमें दैविक प्रमाण साधन बना लिए गए हों।[२]

इस प्रकार मनु ने व्यवहार कार्य अवलोकन करने एवं तद्विषयक निर्णय देने के लिए लिखित प्रमाण की जो आवश्यकता बतलायी है उसकी सम्पुष्टि शुक्र ने भी की है। इतना ही नहीं किन्तु शुक्र ने लिखित प्रमाण के मान्य एवं अमान्य होने के विषय में जिन-जिन आवश्यक लक्षणों का वर्णन किया है वह बड़े मूल्य का विषय है। शुक्र द्वारा लिखित प्रमाण के विषय में जो वर्णन दिया गया है वह यह सिद्ध करता है कि मानवधर्मशास्त्र के रचनाकाल से शुक्रनीति के रचना काल तक लिखित प्रमाण के क्षेत्र में कितना विकास हुआ था।

(इ) **साक्षी**—व्यवहार कार्य में दूसरी कोटि का प्रमाण साक्षी माना गया है। मानवधर्मशास्त्र में साक्षी की परिभाषा इस प्रकार की गयी है—आँख से देखने और कान से सुनने से साक्ष्य सिद्ध होता है। जैसा देखा और सुना होउसी प्रकार सत्य कहने वाला साक्षी धर्म और अर्थ से पतित नहीं होता है।[३] शुक्र साक्षी की परिभाषा करते हुए शुक्रनीति में लिखते हैं—अपने सम्बन्ध से परे (स्वेतरः) विवाद के विषय में ज्ञान रखने वाले व्यक्ति को साक्षी कहेंगे। साक्षी विवाद ग्रस्त घटना का आँखों से देखने वाला और कानों से सुनने वाला होना चाहिए।[४]

१—अतीतकाललिखितं नस्यात्तत्साधनक्षमम्।
अप्रगल्भेण च स्त्रियाबलात्कारेण यत्कृतम्॥
श्लोक ६९७ अ० ४ शुक्रनीति॥

२—सद्भिर्लेख्यैः साक्षिभिश्च भोगैर्दिव्यैः प्रमाणताम्।
व्यवहारे नरोयातिचेहासु प्राप्नुते सुखम्॥
श्लोक ६९८ अ० ४ शुक्रनीति॥

३—समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिध्यति।
तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते॥
श्लोक ७४ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

४—स्वेतरः कार्यविज्ञानीयः ससाक्षीत्वनेकधा॥
श्लोक ६९९ अ० ४ शुक्रनीति॥

मानवधर्मशास्त्र में साक्षियों के विषय में जो वर्णन दिया गया है उस से यह विदित होता है कि व्यवहार कार्य के निमित्त साक्षियों का वरण कई सिद्धान्तों के आधार पर होता था। इन सिद्धान्तों में सर्व प्रथम सिद्धान्त सदाचरण का था इस सिद्धान्त की स्थापना करते हुए मानवधर्मशास्त्र में यह व्यवस्था दी गयी है कि समस्त कार्यों में वही व्यक्ति साक्षी बनाए जाने चाहिए जो सब वर्णों में आप्त पुरुष हों[१]। अर्थात प्रत्येक वर्ण के आप्त पुरुषों के द्वारा दी गयी साक्ष्य ही न्याय सभा में मान्य समझी जानी चाहिए ऐसा मनु का आदेश है। इस विषय में दूसरा सिद्धान्त सम्पन्नता का है। जो व्यक्ति परिवार युक्त और पुत्र-पौत्र कलत्र से सम्पन्न है ऐसा व्यक्ति यथार्थ ही कहेगा ऐसी मनु की धारणा रही होगी इस लिए उन्होंने इस प्रकार के व्यक्ति को साक्षी बनाए जाने का आदेश दिया है। इस विषय में वह यह व्यवस्था देते है कि स्त्री-पुत्र सम्पन्न क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वर्ण वाले गृहस्थ लोग साक्षी बनने योग्य होते हैं।[२]

साक्ष्य सम्बन्धी योग्यता के विषय मे तीसरा सिद्धान्त यह था कि साक्षी को उसी देश (स्थान) का निवासी होना चाहिए जहाँ कि घटना हुयी है। विदेशी अथवा परदेसी साक्षी बनाया जाए इस पक्ष में मनु नही हैं। इसी लिए उन्होंने यह व्यवस्था दी है कि साक्षी को उसी देश का निवासी होना चाहिए। मनु ने इस सिद्धान्त की स्थापना हेतु मौलाः पद का प्रयोग किया है। इस पद की श्री कुल्लूकभट्ट महोदय ने उसी देश में उत्पन्न हुआ ऐसी व्याख्या की है।[३] इस विषय में एक यह सिद्धान्त भी मनु प्रतिपादित करते हैं कि साक्षी वादी अथवा प्रतिवादी (जिस का साक्षी हो) द्वारा निर्दिष्ट किया हुआ होना चाहिए। विना निर्दिष्ट किए गए साक्षी को न्याय सभा में प्रमाण कोटि में परिगणित नहीं किया जाना चाहिए। इस का तात्पर्य यह है कि जो साक्षी पूर्व से निर्दिष्ट नहीं हैं वरन् पेशीपर तुरन्त बिना निर्दिष्ट किए गए किसी व्यक्ति को साक्ष्य कार्य हेतु खड़ा कर दिया गया हो तो ऐसे व्यक्ति की साक्ष्य अमान्य मानी जाए ऐसा मनु का मत है।[४]

१—आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः ॥

श्लोक ६३ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्रविट्शूद्रयोनयः ॥

श्लोक ६२ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

कृतदार परिग्रहाः पुत्रवन्तस्तद्देशजाः क्षत्रियशूद्रवैश्यजातीया अर्थिनिर्दिष्टाः सन्तः साक्षित्वयोग्या भवन्ति॥ कुल्लूकभट्ट कृत मन्वर्थमुक्तावली ॥

३—मौलाः = तद्देशजाः ॥ श्लोक ६२ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

४—अर्थ्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति न ये केचिदनापदि ॥

श्लोक ६२ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

इसके अतिरिक्त मनु साक्षी के लिए सर्वधर्मवित होना चाहिए ऐसा आदेश देते हैं।[1] सर्वधर्मवित से मनु का तात्पर्य यह ज्ञात होता है कि देशधर्म, जाति धर्म, श्रेणीधर्म, गणधर्म और कुलधर्म आदि का ज्ञान रखने वाले व्यक्ति को साक्षी बनाना उचित होगा। जो पुरुष इन धर्मों का ज्ञाता नहीं है वह अपनी अनभिज्ञता के कारण साक्ष्य कार्य में भूल कर सकता है ऐसा सम्भव है। इसी कारण मनु ने ऐसी व्यवस्था दी है। मनु समान वर्ण वाले व्यक्तियों को साक्ष्य कार्य सौपना उचित समझते है। इसका अर्थ यह है कि यदि हो सके तो ब्राह्मण का साक्षी ब्राह्मण, क्षत्रिय का साक्षी क्षत्रिय, वैश्य का वैश्य और शूद्र का शूद्र साक्षी होना चाहिए यहां तक कि चाण्डाल का साक्षी चाण्डाल होना उचित है। इसी सिद्धान्त की पुष्टि में मनु ने यह व्यवस्था दी है—द्विजों की साक्ष्य उनके सदृश द्विजों को शूद्रो की साक्ष्य सज्जन शुद्र को और चाण्डाल की साक्ष्य चाण्डाल को देनी चाहिए।[2] मनु स्त्रियों के विषय में स्त्रियों को ही साक्षी बनाया जाए ऐसा हितकर समझते हैं।[3]

साक्ष्य कार्य के लिए मनु ने कुछ व्यक्तियों को अयोग्य बतलाया है। इस में सर्व प्रथम उन पुरुषों को साक्ष्य कार्य में अयोग्य बतलाया गया है जिनका किसी प्रकार का अर्थ सम्बन्ध उस व्यक्ति से हो जिसका कि वह साक्षी बनाया गया है। दूसरा वह पुरुष जो कि असत्यभाषी है, जो पुरुष उस पुरुष की सेवा में हों, जो उसका शत्रु हो, रोगी, दूषित, और दूसरे स्थान पर जाकर असत्य साक्ष्य देने वाले पुरुष को साक्षी बनाना वर्जित माना गया है।[4] कारीगर, नट, श्रोत्रिय, ब्रह्मचारी और सन्यासी को साक्ष्य कार्य से निषेद किया गया है।[5] वास्तव में कारीगर, नट और श्रोत्रिय जैसे व्यक्तियों का सम्बन्ध, अपनी जीविका अर्जन के कारण, जनता से होता है ऐसी दशा में यह लोग किसी को भी अपना अप्रिय बनाना नहीं चाहते। इस लिए यह लोग स्पष्टवादी नहीं हो

१—सर्वधर्मविदः ॥ श्लोक ६३ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—××× द्विजानां सदृशा द्विजाः।
शूद्राश्चसन्ताः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥
श्लोक ६८ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

३—स्त्रीणांसाक्ष्यं स्त्रियः कुर्युः ॥ श्लोक ६८ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

४—नार्थसम्बन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः।
न दृष्टदोषाः कर्तव्या न व्याध्यार्ता न दूषिताः ॥
श्लोक ६४ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

५—न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारुक कुशीलवौ।
न श्रोत्रियो न लिङ्गस्थो न संगेभ्यो विनिर्गतः ॥
श्लोक ६५ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

सकते। सन्यासी और ब्रह्मचार्यों पर कोई विशेष उत्तरदायित्व नहीं होता। वह सांसारिकता से परे रहने के कारण साक्ष्य कार्य के लिए अनुपयुक्त समझे गए होंगे। दुखी, मद्यपान के कारण मत्त, पागल, क्षुधा-तृषा से पीड़ित, थका, काम से पीड़ित, क्रोध युक्त मनुष्य स्थिर बुद्धि नहीं होते। इसलिए उन पर आस्था नहीं की जा सकती। इसी प्रकार चोर सत्य भाषण नही कर सकता। इस प्रकार इन सब को साक्षी बनाने का निषेध किया गया है।[१] इसी प्रकार परतंत्र, बदनाम, दस्यु, निषिद्ध कर्म करने वाला, वृद्ध, बालक, चाण्डाल, और जिसकी इन्द्रियस्वस्थ न हो ऐसे व्यक्तियों के आचरण पर आस्था नही की जा सकती। इसलिए ऐसे पुरुषों को साक्ष्य कार्य से वहिष्कृत रखने का प्रतिपादन मानवधर्मशास्त्र में किया गया है। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति अकेला ही हो अर्थात् जिसके परिवार में कोई न हो ऐसे व्यक्ति को सत्य अथवा असत्य भाषण में लेश मात्र भी किसी प्रकार की रुकावट नही होती। इसलिए इस प्रकार के व्यक्ति को भी साक्ष्य कार्य से वहिष्कृत रखने के लिए मनु ने अपना मत दिया है।[२]

परन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में इन नियमों का उल्लंघन कर किसी भी व्यक्ति को जो कि घटना से परिचित हो साक्षी बना लिया जाना चाहिये ऐसा मनु आदेश देते हैं। इस विषय में वह यह व्यवस्था देते हैं---घर के भीतर, वन में तथा शरीर के अन्त (वध) से सम्बन्धित विवाद में जो कोई भी घटना से परिचित हो वही साक्षी बनाया जा सकता है।[३] जहाँ विधिवत साक्ष्य प्राप्त न होसके वहाँ स्त्री, बालक, वृद्ध, शिष्य बन्धु, और नौकर-चाकर की भी साक्ष्य ग्रहण की जा सकती है।[४] ग्राम की सीमा के विषय में ग्राम के मूल निवासियों की साक्ष्य के अभाव में बनचर पुरुषों को भी साक्षी बना लिया जाना चाहिए।

१—नार्तो न मत्तो नोन्मत्तो न क्षुत्तृष्णोपपीडितः।
न श्रमार्तो न कामार्तो न क्रुद्धो नापि तस्करः॥
श्लोक ६७ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

२—नाध्यधीनो न वक्तव्यो न दस्युर्न विकर्मकृत्।
न वृद्धो न शिशुर्नैको नान्त्यो न विकलेन्द्रियः॥
श्लोक ६६ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

३—अनुभावी तु यः कश्चित्कुर्यात्साक्ष्यं विवादिनाम्।
अन्तर्वेश्मन्यरण्ये वा शरीरस्यापि चात्यये॥
श्लोक ६९ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

४—स्त्रियाप्यसंभवे कार्यं बालेन स्थविरेण वा।
शिष्येण बन्धुना वापि दासेन भृतकेन वा॥
श्लोक ७० अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

इस विषय में मनु यह व्यवस्था देते हैं—पास-पड़ोस के मूल निवासियों की साक्ष्य के अभाव में वनवासियों की साक्ष्य लेना चाहिये।[1] व्याध, शकुनिक, गोप, कैवर्तक, मूल खोदने वाले, सपेरे तथा उञ्छवृत्ति धारण करने वाले और दूसरे बनचारियों को सीमा-सन्धि सम्बन्धी व्यवहार में साक्षी बनाया जा सकता है।[2]

उपर्युक्त विभिन्न प्रकारके व्यक्तियों को साक्ष्य कार्य से वहिष्कृत करने में मनु संक्षेप में यह कारण बतलाते है कि साक्षी स्वाभाव से जो कहता है वह व्यवहार के निर्णय में ग्राह्य है और इससे विपरीत कहा गया व्यवहार के निर्णयार्थ निरर्थक है[3]। अर्थात् जब मनुष्य भय, लोभ, काम, क्रोध आदि विकारों से प्रभावित होकर साक्ष्य देता है तो ऐसे व्यक्ति की साक्ष्य निरर्थक मानी गयी है। स्त्री को स्वभाव से ही अस्थिर बुद्धि माना गया है। इसी लिये मानवधर्मशास्त्र में स्त्री को साक्षी बनाने का निषेध किया गया है। इस विषय में मानवधर्मशास्त्र में इस प्रकार आदेश दिया गया है—लोभरहित एक ही साक्षी पर्याप्त माना जा सकता है परन्तु स्त्रियां बहुत और पवित्र भी हों तो भी नहीं क्योंकि स्त्री की बुद्धि स्थिर नहीं होती।[4]

मनु व्यवहार निर्णय के लिये कम से कम तीन साक्षियों से साक्ष्य ली जानी चाहिए इस पक्ष में है। तीन से कम साक्षियों की साक्ष्य के बिना, विशेष परिस्थिति को छोड़कर, राज्य को व्यवहार में अपना निर्णय नहीं देना चाहिये। मनु इस विषय में यह व्यवस्था देते हैं—राजा और ब्राह्मण के समक्ष प्रतिवादी से

१—सामन्तानामभावे तु मौलानां सीम्नि साक्षिणाम्।
इमानप्यनुयुञ्जीत पुरुषान्वनगोचरान्॥
श्लोक २५९ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

२—व्याधांश्छाकुनिकान्गोपान्कैवर्तान्मूलखानकान्।
व्यालग्राहानुञ्छवृत्तीनन्यांश्च वनचारिणः॥
श्लोक २६० अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः सीमासन्धिषु लक्षणम्।
तत्तथा स्थापयेद्राजा धर्मेण ग्रामयोर्द्वयोः॥
श्लोक २६१ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

३—स्वभावेनैव यद्ब्रूयुस्तद्ग्राह्यं व्यावहारिकम्।
अतो यदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थकम्॥
श्लोक ७८ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

४—एकोऽलुब्धस्तु साक्षी स्याद्बह्व्यः शुच्योऽपि न स्त्रियः।
स्त्रीबुद्धेरस्थिरत्वात्तु दोषैश्चान्येऽपि ये वृताः॥
श्लोक ७७ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

पूछा जाना चाहिये। उसके नकार करने पर अर्थी को कम से कम तीन साक्षियों के द्वारा अपने सिद्धान्त की पुष्टि करनी चाहिये।[१]

मिथ्या साक्ष्य देने के अपराध में साक्षी को दण्ड —मानवधर्मशास्त्र मे यह व्यस्था भी दी गयी है कि यदि साक्षी मिथ्या बातें बनाकर झूठी साक्ष्य दे तो उसको धर्मसभा की ओर से दण्ड दिया जाना चाहिए। मनु असत्य साक्ष्य देने का कारण बतलाते हुए कहते है कि लोभ, मोह, भय मित्रता, काम, क्रोध,अज्ञान तथा लड़कपन से मिथ्या साक्ष्य दी जाती है।[२] इन लोभादि में से किसी कारण व्यवाहार कार्य में मिथ्या साक्ष्य देने से साक्षी को जो दण्ड मनु ने निर्धारित किया है उसके अनुसार दण्ड विधान इस प्रकार किया गया है[३] लोभ से मिथ्यासाक्ष्य देने वाले पुरुष पर सहस्र पण, मोह से साक्ष्य देने वाले को प्रथम साहस दण्ड देना चाहिए। भय से मिथ्या साक्ष्य दे तो दो मध्यम साहस दण्ड, मित्रता के प्रभाव के कारण मिथ्या साक्ष्य देने से प्रथम साहस का चार गुना दण्डदेना चाहिए।[४] काम के निमित्त अनृत साक्ष्य देने से प्रथम साहस का दस गुना और क्रोध के कारण मिथ्या साक्ष्य देने पर उत्तमसाहस का तीन गुना और अज्ञान से मिथ्या साक्ष्य देने से सौ पण का दण्ड दिया जाना चाहिए।[५]मनु का कथन है कि सत्यरूपधर्म के लोप न होने पर और असत्यरूपी अधर्म के दूर होने के लिए मिथ्या साक्ष्य देने वाले व्यक्ति के लिए यह दण्ड विद्वानों ने निर्धारित किए है।[६]

१—पृष्टोऽपव्ययमानस्तु कृतावस्थो धनैषिणा।
त्र्यवरैः साक्षिभिर्भाव्यो नृपब्राह्मणसन्निधौ॥
श्लोक ६० अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

२—लोभान्मोहाद्भयान्मैत्रात्कामात्क्रोधात्तथैव च।
अज्ञानाद्बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते॥
श्लोक ११८ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

३—एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत्।
तस्य दण्डविशेषांस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः॥
श्लोक ११९ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

४—लोभात्सहस्त्रं दण्डयस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम्।
भयाद् द्वौमध्यमौ दण्डौ मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम्॥
श्लोक १२० अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

५—कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम्।
अज्ञानाद् द्वेशते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु॥
श्लोक १२१ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

६—एतानाहुः कौटसाक्ष्ये प्रोक्तान्दण्डान् मनीषिभिः।
धर्मस्याव्यभिचारार्थमधर्मनियमाय च॥
श्लोक १२२ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

मनु के इस कथन से ज्ञात होता है कि मानवधर्मशास्त्र के रचना काल के पूर्व भी मिथ्या साक्ष्य देने वाले व्यक्ति को राज्य की ओर से दण्ड दिये जाते थे। किन्हीं-किन्हीं परिस्थितियों में मिथ्या साक्ष्य देने वाले को देश से भी बाहर निकाल दिया जाता था। इस विषय मे मानवधर्मशास्त्र में यह व्यवस्था दी गयी है—धार्मिक राजा को मिथ्या साक्ष्य देने वाले तीनों वर्णों (क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) के लोगों को दण्डितकर उनको राज्य से बाहर निकाल देना चाहिए परन्तु ब्राह्मण को केवल राज्य से विना दण्डित किए हुए बाहर निकाल देना चाहिए। [१]

इस प्रकार मनु के मतानुसार मिथ्या साक्ष्य देने वाले साक्षियों को उनके दोषों के अनुसार दण्ड दिया जाना चाहिए।

धर्मसभा में साक्षी से साक्ष्य लेने के पूर्व कुछ ऐसे दृष्टान्त साक्षी के समक्ष प्रस्तुत किए जाते थे जिनमें साक्ष्य देने से पुण्य और मिथ्या साक्ष्य देने से गहन पाप होता है इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इन दृष्टान्तों के देने का उद्देश्य यह था कि साक्षी ऐसे दृष्टान्तों को सुन कर भयभीत होजाए और धर्म भीरु बन कर धर्मसभा में मिथ्या साक्ष्य न देकर सत्य ही बोले। इस विषय में मानवधर्मशास्त्र में इस प्रकार वर्णन प्राप्त है—सभा में अर्थी और प्रत्यर्थी के समक्ष प्राड्विवाक को इस प्रकार पूछना चाहिए कि इन दोनों (अर्थी-प्रत्यर्थी) ने परस्पर इस कार्य में जो कुछ किया हो इसके विषय में जो कुछ जानते हो वह सब सत्य-सत्य कहो क्योंकि तुम्हारी इस विषय में साक्ष्य है। [२] साक्ष्यकर्म में सत्य बोलता हुआ साक्षी लोक में उत्तम कीर्ति को प्राप्त कर मरने के उपरान्त उत्कृष्ट लोकों को प्राप्त करता है क्योंकि सत्य वाणी ब्रह्मा के द्वारा पूजित हुई है। [३] अनृत साक्ष्य देनेवाला वरुण के पाशों से परतन्त्र हुआ शत जन्म

१—कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणांस्त्रीन्वर्णानधार्मिको नृपः।
प्रवासयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मणं तु विवासयेत्॥
श्लोक १२३ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

२—सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ।
प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिनाऽनेन सान्त्वयन्॥
श्लोक ७९ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

यद्द्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिंश्चेष्टितं मिथः।
तद्ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता॥
श्लोक ८० अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

३—सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान्।
इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता॥
श्लोक ८१ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

पर्यन्त पीड़ित होता है इस लिए अनृत साक्ष्य नहीं देना चाहिए।[1] सत्य से मनुष्य पवित्र हो जाता है और सत्य भाषण से धर्म की वृद्धि होती हैं। इस लिए सब वर्णों के साक्षियों को सत्य ही बोलना चाहिए।[2] आत्मा ही अपना साक्षी होता है और आप ही अपनी गति है इस लिए अनृत साक्ष्य से अपने आत्मा का अपमान नहीं करना चाहिए।[3]

धर्म सभा में जब साक्षी को साक्ष्य कार्य के लिए आना होता था तो उस समय साक्षियों को किस प्रकार से खड़ा होकर साक्ष्य देनी होती थी इस ओर भी मानवधर्मशास्त्र में कुछ संकेत किया गया है। साक्षियों को साक्ष्य देने के पूर्व शपथ दिलायी जाती थी कि वह सत्य ही कहेंगे। इस शपथ का स्वरूप विभिन्न वर्णों के लिए अलग-अलग निश्चय किया गया था। यह निश्चय इस प्रकार बतलाया गया है—देवता और ब्राह्मण के समीप में पवित्र द्विजातिपों को पूर्व मुख अथवा उत्तर मुख करके अभियोक्ता को स्वयं स्वस्थ चित्त होकर प्रातः समय सच-सच वृत्तान्त साक्षियों से पूछना चाहिये।[4] "कहिए" ऐसा ब्राह्मण से, "सत्य कहिये ऐसा" क्षत्रिय से, "गौ, बीज और सुवर्ण के चुराने का पातक तुमको लगेगा जो तुम असत्य बोलोगे" ऐसा कहकर शूद्र से पूछना चाहिए।[5] फिर उस (प्राड्विवाक) को इस प्रकार साक्षी को सचेत करना चाहिए कि ब्राह्मण के मारने वाले और स्त्रीघाती तथा बालघाती, मित्रद्रोही और कृतघ्न को जो-जो लोक प्राप्त होने स्मृतियों में कहे गये है वह ही मिथ्या साक्ष्य देने वाले को होते

१—साक्ष्येऽनृतं वदन्पाशैर्बध्यते वारुणैर्भृशम्।
विवशः शतमा जातीस्तस्मात्साक्ष्यं वदेदृतम्॥
श्लोक ८२ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

२—सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते।
तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः॥
श्लोक ८३ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

३—आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः।
माऽवमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम्॥
श्लोक ८४ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

४—देवब्राह्मणसांनिध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान्।
उदङ् मुखान्प्राङ्मुखान्वा पूर्वाह्णे वै शुचिः शुचीन्॥
श्लोक ८७ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

५—ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत्सत्यं ब्रूहीति पार्थिवम्।
गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः॥
श्लोक ८८ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

है ।[१] हे भद्र ! तूने, आयु भर जो कुछ पुण्य कर्म किये हैं वह तेरे समस्त पुण्य कुत्तों को प्राप्त हों जो तू इस विषय में मिथ्या साक्ष्य देगा ।[२]

इस प्रकार साक्षियों को सत्य साक्ष्य देने के लिए आकर्षित किया जाता था । आशा यह की जाती थी कि परलोक का भय दिखाकर मनुष्य को मिथ्या साक्ष्य देने से बचाया जा सकता था ।

(उ) भोग—लेख और साक्षी इन प्रमाणों के अतिरिक्त तीसरा प्रमाण भोग का प्रमाण मान्य समझा गया है । इस प्रमाण के विषय में कतिपय नियमों का वर्णन मानवधर्मशास्त्र में प्राप्त है । इस विषय में मानवधर्मशास्त्र में इस प्रकार व्यवस्था दी गयी है—यदि किसी वस्तु को दूसरा व्यक्ति दस वर्ष तक भोगता रहे और उसका स्वामी मौन बैठा रहे तो वस्तु भोग करने वाले की हो जाती है ।[३] जो पागल न हो और न पौगण्ड (बालक) ही और उसी के समक्ष उसकी वस्तु को दूसरा पुरुष भोगता रहे तो ऐसी दशा में उन पर भोक्ता का अधिकार माना जाएगा ।[४] बन्धक (आधि), सीमा, बालधन, धरोहर, प्रीति-पूर्वक भोगार्थ दिया हुआ धन, स्त्री और राजा का धन तथा श्रोत्रिय का धन इन को भोगने से भी भोग करने वाला नहीं पा सकता ।[५] जिस वस्तु का सम्भोग

१—ब्रह्मघ्नो ये स्मृता लोका ये च स्त्रीबालघातिनः ।
मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य ते ते स्युर्ब्रुवतो मृषा ॥
श्लोक ८९ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—जन्मप्रभृति यत्किञ्चित्पुण्यं भद्र ! त्वयाकृतम् ।
तत्ते सर्वं शुनो गच्छेद्यदि ब्रूयास्त्वमन्यथा ॥
श्लोक ९० अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

३—यत्किञ्चिद्दशवर्षाणि सन्निधौ प्रेक्षते धनी ।
भुज्यमानं परैस्तूष्णीं न स तल्लब्धुमर्हति ॥
श्लोक १४७ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

४—अजडश्चेदपोगण्डो विषये चास्य भुज्यते ।
भग्नं तद्व्यवहारेण भोक्ता तद् द्रव्यमर्हति ॥
श्लोक १४८ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

५—आधिः सीमा बालधनं निक्षेपोपनिधिः स्त्रियः ।
राजस्वं श्रोत्रियस्वं च न भोगेन प्रणश्यति ॥
श्लोक १४९ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

तो देखा जाता है और क्रियादि आगम नहीं वहां आगम प्रमाण होता है सम्भोग नहीं यह मर्यादा है। [१]

परन्तु यदि कोई भोग-योग्य पदार्थ गिरवी रखा गया है परन्तु महाजन उसका भोग करता है तो भोग के कारण उस पदार्थ पर महाजन का अधिकार नहीं हो सकता। इस विषय में मानवधर्मशास्त्र में इस प्रकार व्यवस्था दी गयी है—भोग-योग्य पदार्थ बन्धक गिरवी रखे तो महाजन को व्याज प्राप्ति का अधिकार नहीं रहता और अधिक समय के व्यतीत होने पर भी महाजन उसको दूसरे को दे देने अथवा उसके विक्रय करने का अधिकारी नहीं हो सकता। [२] आधि (गिरवी) और उपनिधि (थाथी) इन दोनों में काल व्यतीत होने पर भी स्वामी के सत्व का नाश नहीं होता। दीर्घ काल व्यतीत होने पर भी स्वामी अपनी उस वस्तु अथवा धन को वापस लेने का अधिकारी माना गया है। [३] प्रीतिपूर्वक उपभोग किए जानेवाले ऊँट, घोड़ा, बैल आदि भोग में लाए जाने पर भी इनका स्वामित्व नहीं जाता रहता। [४]

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर यह स्पष्ट विदित होता है कि मानवधर्मशास्त्र के रचना काल में भोग का अधिकार भी कतिपय नियमों के अनुसार मान्य समझा जाता था और व्यवहारों के अवलोकन करते समय भोग प्रमाण पर भी विचार कर निर्णय दिया जाता था।

दिव्य प्रमाण—जिन व्यवहारों में मानुष प्रमाण विफल हो जाते थे दिव्य प्रमाणों का आश्रम लेना उचित समझा गया है। दिव्य प्रमाण से तात्पर्य शपथ लेना, अथवा तप्त अग्नि को ग्रहण करना, जल में डुबाना आदि समझा गया है। इस विषय में मानवधर्मशास्त्र में इस प्रकार आदेश दिया गया है—जब किसी विषय में परस्पर मतभेद हो और इस विषय का निर्णय देने में कि कौन

१—संभोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित्।
आगमः कारणं तत्र न संभोग इति स्थितिः॥
श्लोक २०० अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

२—न त्वेवाधौ सोपकारे कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयात्।
न चाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः॥
श्लोक १४३ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

३—आधिश्चोपनिधिश्चोभौ न कालात्ययमर्हतः।
अवहार्यौ भवेतां तौ दीर्घकालमवस्थितौ॥
श्लोक १४५ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

४—संप्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन।
धेनुरुष्ट्रो वहन्नश्वो यश्च दम्यः प्रयुज्यते॥
श्लोक १४६ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

पक्ष सत्य और कौन असत्य है साक्ष्य का अभाव हो तो ऐसी अनिश्चित दशा में शपथ के द्वारा भी निर्णय कर देना चाहिए।[1] क्योंकि महर्षि और देवताओं ने भी कार्य सम्पादान हेतु शपथें ली हैं। वसिष्ठ ने भी सुदास राजा के समक्ष शपथ ली थी।[2] थोड़े अर्थ के लिए भी मिथ्याशपथ लेने से लोगों का यह लोक और परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं—ऐसा मनु का मत है।[3]

यह शपथें भी वर्ण के अनुसार निर्धारित की गयी थी। मानवधर्मशास्त्र में इस विषय में यह व्यवस्था दी गयी है—ब्राह्मण को सत्य की शपथ करानी चाहिए, क्षत्रिय को वाहन तथा आयुध की, वैश्य को गाय, बैल, बीज अथवा सोने की और शूद्र को सम्पूर्ण पातकों की शपथ करानी चाहिए।[4] शूद्र से जलती अग्नि को उठवाना चाहिए और उसको पानी में डुबाना चाहिए, तथा पुत्र, और स्त्री, के शीश पर अलग-अलग हाथ रखवाना (स्त्री-पुत्र की शपथ लेनी) चाहिए।[5] जिसको जलती आग नहीं जलाती और पानी जिसको नहीं डुबाता और जिसमें पुत्रादि के वियोग जनित बड़ी पीड़ा शीघ्र प्राप्त नहीं होती ऐसे व्यक्ति को शपथ में सच्चा समझना चाहिए[6], क्योंकि पूर्व कालमें वत्स ऋषि को उसके छोटे भ्राता ने कहा, (तू शूद्रा का पुत्र है, ब्राह्मण का नहीं, इतना

१—असाक्षिकेषु त्वर्थेषु मिथो विवदमानयोः।
अविन्दंस्तत्त्वतः सत्यं शपथेनापि लम्भयेत्॥
श्लोक १०९ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

२—महर्षिभिश्च देवैश्च कार्यार्थं शपथाः कृताः।
वसिष्ठश्चापि शपथं शेपे पैजवने नृपे॥
श्लोक ११० अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

३—न वृथा शपथं कुर्यात्स्वल्पेऽप्यर्थे नरोबुधः।
वृथा हि शपथं कुर्वन्प्रेत्य चेह च नश्यति॥
श्लोक १११ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

४—सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः।
गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः॥
श्लोक ११३ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

५—अग्निं वाहारयेदेनमप्सु चैनं निमज्जयेत्।
पुत्रदारस्य वाप्येनं शिरांसि स्पर्शयेत्पृथक्॥
श्लोक ११४ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

६—यमिद्धो न दहत्यग्निरापो नोन्मज्जयन्ति च।
न चार्तिमृच्छति क्षिप्रं स ज्ञेयः शपथे शुचिः॥
श्लोक ११५ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

विरुद्ध न हो ऐसा निर्णय देना चाहिए।[1] इस विषय में व्यवस्था देते हुए कि किन व्यक्तियों के विरुद्ध व्यवहार सिद्ध नहींहोता मनु अपना मत प्रकट करते हुए यह भी बतलाते हैं कि पारस्परिक भाषा (वचन) चाहे लिखित हो और चाहे मौखिक यदि वह धर्मों (परम्पराओं) के विरुद्ध है तो वह मान्य नहीं समझा जाना चाहिए।[2] मनु का यह मत भी इसी सिद्धान्त की स्थापना करता है।

मानवधर्मशास्त्र में जो देश, काल, प्रचलन एवं देश, जाति, गण, कुल आदि के विशेष धर्मों को दृष्टि में रख कर सभा को व्यवहार अवलोकन कर अपना निर्णय देना चाहिए इस विषय में कौटिल्य ने भी इस प्रकार व्यवस्था दी है—देश, जाति, संघ और ग्राम आदि के जो धर्म (रीति, प्रचलन आदि) हों उन्हीं के अनुसार देय भाग की व्यवस्था होनी चाहिए।[3] याज्ञवल्क्य स्मृति में भी इसी नियम का समर्थन किया गया है। याज्ञवल्क्य इन धर्मों की मान्यता स्वीकार करते हुए कहते हैं--राजा को कुल, जाति, श्रेणी, गण और देश के धर्मों की स्थापना करनी चाहिए। इन धर्मों के भंग करने वाले लोगों को समुचित दण्ड देना चाहिए और इस प्रकार उनको इस बात के लिए विवश करना चाहिए कि वह इन धर्मों के अनुसार आचरण धारण करें।[4] आपस्तम्ब ने भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।[5]

शुक्र ने यह व्यवस्था स्पष्ट शब्दों में दी है कि राजा को केवल लेख, साक्षी और भोग के आधार पर ही विवाद-ग्रस्त विषयों में अपना निर्णय नहीं देना चाहिए। राजा को लोक, देश आदि के धर्मों को भी दृष्टि में रखकर अपना निर्णय देना चाहिए।[6] शुक्रनीति में एक स्थल पर धर्म सभा में बैठ कर राजा

१—सद्भिराचरितं यत्स्याद्धार्मिकैश्च द्विजातिभिः।
तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥
श्लोक ४६ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—तत्या न भाषा भवति यद्यपि स्यात् प्रतिष्ठिता।
वहिश्चेद्भाष्यते धर्मान्नियताद्व्यावहारिकात् ॥
श्लोक १६४ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

३—देशस्य जात्या संघस्य धर्मो ग्रामस्य वापि यः।
उचितस्तस्य तेनैव दायधर्मं प्रकल्पयेत् ॥
श्लोक ४५ अ० ७ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

४—कुलानि जातीः श्रेणीश्चगणान् जनपदांस्तथा।
स्वधर्मचलितान् राजा विनीय स्थापयेत् पथि ॥ याज्ञवल्क्य स्मृति ॥

५—एतेन देशकुलधर्मा व्याख्याताः ॥ अपस्तम्ब स्मृति ॥

६—केवलेन च भोगेन लेखेनापि च साक्षिभिः।
कार्यं न चिन्तयेद्राजा लोकदेशादिधर्मतः ॥
श्लोक अ० ४ शुक्रनीति ॥

को किस प्रकार का आचरण धारण करना चाहिए इस विषय में इस प्रकार विचार प्रकट किये गये हैं——व्यवहारों को अवलोकन करने वाले राजा को ब्राह्मणों तथा मंत्रणा देने की सामर्थ्य रखने वाले मंत्रियों के साथ धर्म सभा में प्रवेश करना चाहिए।[१] धर्म सभा में पहुँचकर धर्मासन पर बैठकर व्यवहारों के अवलोकन करने का कार्य आरम्भ करना चाहिए राजा को आरम्भ से अन्त तक एक सा रहकर वादी और प्रतिवादी दोनों के विवाद के विषय में प्रश्न करना चाहिए। [२] राजा को प्रति दिन देश की रीति, शास्त्र-मर्यादा तथा अन्य हेतुओं के अनुसार कुलधर्म, जातिधर्म श्रेणीधर्म, और देशधर्म आदि को देखकर अपने धर्म का पालन करना चाहिए। [३] देश, जाति तथा कुल के जो धर्म पूर्व से चले आ रहे हैं उनका उसी प्रकार विधिवत राजा को पालन करना चाहिए। इसके विरुद्ध आचरण से प्रजा असन्तुष्ट हो जाती है। [४] इसी प्रसंग में शुक्रनीति में कतिपय उदाहरण भी दिए गए हैं। वह इस प्रकार है——दक्षिण देश में द्विज भी अपने मातुल की कन्या के साथ विवाह कर लेते हैं। मध्य देश में शिल्पी और कारीगर परस्पर उच्छिष्ट खा जाते हैं, सारे मनुष्य मछली खाते हैं और स्त्रियां प्रायः व्यभिचार परायण हैं।[५] उत्तर देश में स्त्रियाँ भी सुरापान करती

१——व्यवहारान्दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः।
मंत्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम्॥
श्लोक ५६६ अ० ४ शुक्रनीति॥

२——धर्मासनमधिष्ठाय कार्य दर्शनमारभेत्।
पूर्वोत्तर समोभूत्वा राजा पृच्छेद्विवादिनोः॥
श्लोक ५६७ अ० ४ शुक्रनीति॥

३——प्रत्यहं देश दृष्टैश्च शास्त्र दृष्टैश्च हेतुभिः।
जाति जान्पदान्धर्माच्छ्रेणि धर्मास्तथैवच॥
श्लोक ५६८ अ० ४ शुक्रनीति॥

समीक्ष्य कुलधर्मांश्चस्वधर्मं प्रतिपालयेत्॥
श्लोक ५६९ अ० ४ शुक्रनीति॥

४——देश जाति कुलानां च ये धर्माः प्राक् प्रवर्तिताः॥
श्लोक ५६९ अ० ४ शुक्रनीति॥

तथैवते पालनीयाः प्रजा प्रक्षुभ्यतेन्यथा॥
श्लोक ५७० अ० ४ शुक्रनीति॥

५——उद्ह्यते दाक्षिणात्यैर्मातुलस्य सुताद्विजैः॥
श्लोक ५.० अ० ४ शुक्रनीति॥

मध्यदेशे कर्मकाराः शिल्पिनश्च गवाशिनः।
मत्स्यादाश्चनराः सर्वे व्यभिचाररताः स्त्रियः॥
श्लोक ४७० अ० ४ शुक्रनीति॥

हैं। मनुष्य रजस्वला से स्पृश्यास्पृश्य नहीं मानते। खश जाति के लोग अपने भाई की विधवा स्त्री को भी अपनी पत्नी बना लेते हैं।[१] ऐसे अनुचित आचरण के कारण भी वह प्रायश्चित्त अथवा दण्ड के भागी नहीं होते क्योंकि यह धर्म उनमें परम्परा से चले आ रहे हैं। उनके पूर्वज भी इसी प्रकार का आचरण करते थे।[२] जो प्रथाएँ अथवा प्रचलन पूर्वकाल से प्रवाहित है उनसे ही यह दूषित नहीं होते। अन्य वर्जित कर्मों से उनको भी दोष लगता है।

इस प्रकार न्याय-क्षेत्र में देशधर्म, जातिधर्म, श्रेणीधर्म, कुलधर्म आदि के महत्त्व को प्राचीन भारत के अन्य धर्मशास्त्र प्रणेताओं ने भी स्वीकार किया है।

व्यवहारों का पुनर्चिन्तन—व्यवहार के अवलोकन करने एवं तत्सम्बन्धी निर्णय देने में विशेष सावधान रहने की आवश्यकता होती है। न्यायाधीश की असावधानी से यदि न्याय-क्षेत्र में किसी विवादग्रस्त विषय में उचित निर्णय देने में त्रुटि रह जाये तो यह त्रुटि अत्यन्त अनिष्टकारी सिद्ध होती है। अतः राजा को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे इस कार्य में त्रुटि न रहने पाये। इसके अतिरिक्त मनुष्य से भूल हो जाना स्वाभाविक है। इसलिये ऐसी व्यवस्था का निर्माण किया जाना परमावश्यक है जिस से न्याय-क्षेत्र में भूल रह जाने की सम्भावना न रहने पाए। इसी सिद्धान्त को कार्यान्वित करने के लिए व्यवहारों के पुनर्चिन्तन की व्यवस्था की जाती है और उसके साथ ही उन लोगों को दण्ड विधान किया जाता है जो व्यवहारों का अवलोकन कर निर्णय देने में कुछ भूल करते हैं। यदि यह प्रतिबन्ध न रखा जाए तो भूलों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती जाएगी और उनके दूर करने की ओर उपेक्षा की जाएगी। इसीलिये मानवधर्मशास्त्र में व्यवहारों के पुनर्चिन्तन की व्यवस्था को अपनाने पर महत्त्व दिया गया है। इस विषय में मानवधर्मशास्त्र में यह व्यवस्था दी गयी है—व्यवहार अवलोकन कार्य में यदि मंत्री अथवा प्राड्विवाक ने भूल की है (अन्यथा निर्णय दिया है) तो उस व्यवहार को राजा को स्वयं (पुनः) अवलोकन करना चाहिए और (अन्यथा निर्णय देनेवाले) मन्त्री अथवा प्राड्-

१—उत्तरे मद्यपानार्याः स्पृश्यानृणांरजस्वला।
खशजाताः प्रगृह्णन्तिभ्रातृ भार्यामभर्तृकाम् ॥
श्लोक ५७२ अ० ४ शुक्रनीति ॥

२—अनेन कर्मणानैते प्रायश्चित्तदमार्हकाः।
येषांपरम्परा प्राप्ताः पूर्वजैरप्यनुष्ठिताः ॥
श्लोक ५७३ अ० ४ शुक्रनीति ॥

तएवतैर्न दुष्येयुराचारान्नेतरस्यतु ॥
श्लोक ५७४ अ० ४ शुक्रनीति ॥

विवाक को एक सहस्त्र (पण) का दण्ड देना चाहिए।[१] इस प्रकार मंत्री अथवा प्राड्विवाक द्वारा की गयी अशुद्धियों के निराकरण हेतु राजा को व्यवहारों के पुनर्चिन्तन करने का आदेश मानवधर्मशास्त्र में दिया गया है। इसी प्रसंग में दूसरे स्थल पर व्यवहारों के पुनर्चिन्तन की ओर इस प्रकार संकेत किया गया है----जिस-जिस विवाद में साक्षियों ने मिथ्या साक्ष्य दी है ऐसा निश्चय हो उस विवाद के निर्णय पर पुनः चिन्तन (निवर्तेत) करना चाहिए और इसके पूर्व का निर्णय निर्णय न समझना चाहिए।[२] इस प्रकार इन व्यवस्थाओं के होते हुए यह स्पष्ट है कि मानवधर्मशास्त्र में व्यवहारो के पुनर्चिन्तन के सिद्धान्त की स्थापना की गयी है।

व्यवहारों के पुनर्चिन्तन सम्बन्धी इस सिद्धान्त का समर्थन शुक्रनीति में भी किया गया है। इस विषय में शुक्रनीति में यह व्यवस्था दी गयी है कि व्यवहारों का चिन्तन एक, दो, तीन और चार बार होना चाहिए।[३]साक्षी, सभ्य तथा अन्य कर्मचारियों के दोष के कारण यदि निर्णय में त्रुटि रह जाए, तो ऐसे निर्णयों का पुनर्चिन्तन होना चाहिए। यदि अपने कार्य में ही त्रुटि रह जाए तो उस पर फिर विचार करना चाहिए।[४] इसी सिद्धान्त को कार्यान्वित करने के लिए शुक्र ने यह व्यवस्था भी दी है कि किस न्यायालय के समक्ष वह प्रकरण प्रस्तुत किया जाना चाहिए। इस विषय में ऐसा आदेश दिया गया है --जिस विवाद-ग्रस्त विषय पर कुल न्यायालय द्वारा विचार न हो सका हो उस पर श्रेणी को विचार करना चाहिए, और जिस विवाद-ग्रस्त विषय पर श्रेणी भी विचार न कर सकी हो उस पर गण को चिन्तन करना करना चाहिए। जब गण भी निर्णय न कर सका हो (उसके द्वारा उचित निर्णय न दिया गया हो) तो उस पर राजा के द्वारा नियुक्त किए गए अधिकारियों को

१---अमात्याः प्राड्विवाको वा यत्कुर्युः कार्यमन्यथा।

तत्स्वयं नृपतिः कुर्यात्तान्सहस्त्रं च दण्डयेत्॥

श्लोक २३४ अ० ९ मानवधर्मशास्त्र॥

२ --यस्मिन्यस्मिन्विवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत्।

तत्तत्कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत्॥

श्लोक ११७ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

३---एकद्वित्रिचतुर्वारं व्यवहारानुचिन्तनम्॥

श्लोक ५५७ अ० ४ शुक्रनीति॥

४---साक्षि सभ्यावसन्नानां दूषणे दर्शनं पुनः।

स्वचर्या वसितानां च प्रोक्तः पौनर्भवोविधिः॥

श्लोक ७९२-९३ अ० ४ शुक्रनीति॥

निर्णय देना चाहिए। [1] कुल श्रेणी और गण से अधिक योग्यता वाले सभ्य माने गए हैं। सभ्यों से अधिक अध्यक्ष और इन सबसे श्रेष्ठ धर्माधर्म का निर्णय देनेवाला राजा होता है। [2] जब उत्तम, मध्यम और अधम विवादों का विचार होता है तो इन सबके ऊपर राजाओं की बुद्धि अधिक मानी गयी है। [3]

व्यवहारों के पुनर्चिन्तन के सिद्धान्त का समर्थन याज्ञवल्क्य और नारद स्मृतियों में भी किया गया है। उन्होंने यह स्पष्ट व्यवस्था दी है कि कुल से श्रेणी, और श्रेणी से गण अथवा पुग न्यायसंस्थाएँ श्रेष्ठ हैं। इन स्मृतियों में कुल से श्रेणी, श्रेणी से गण अथवा पुग और फिर राजा के अधीन अन्तिम निर्णय माना गया है। [4]

इस प्रकार मनु द्वारा स्थापित किए गए व्यवहारों के पुनर्चिन्तन के इस सिद्धान्त का समर्थन शुक्र, याज्ञवल्क्य, नारद आदि ने भी किया है। इतना अवश्य है कि शुक्र, याज्ञवल्क्य एवं नारद आदि के समान मनु ने पुनर्चिन्तन सम्बन्धी कार्य के लिए विभिन्न न्यायालयों के अधिकारों का इतना स्पष्ट वर्णन नही दिया है।

१—विचार्य श्रेणिभिः कार्यं कुलैर्यन्न विचारितम्।
गणैश्च श्रेण्यविज्ञातं गणाज्ञातं नियुक्तकैः॥

श्लोक ५५३ अ० ४ शुक्रनीति॥

२—कुलादिभ्योधिकाः सभ्यास्तेभ्योऽध्यक्षोधिकः कृतः।
सर्वेषामधिको राजा धर्माधर्म नियोजकः॥

श्लोक ५५४ अ० ४ शुक्रनीति॥

३—उत्तमाऽधम मध्यानां विवादानां विचारणात्।
उपर्युपरि बुद्धीनां चरंतीश्वर बुद्धयः॥

श्लोक ५५५ अ० ४ शुक्रनीति॥

४—नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथकुलानि च।
पूर्वं-पूर्वं गुरुज्ञेयं व्यवहार विधौ नृणाम्॥

याज्ञवल्क्य स्मृति॥

कुलानि श्रेण्यश्चैव गणाश्चाधिकृतो नृपः।
प्रतिष्ठा व्यवहाराणां गुर्वेभ्यस्तूत्तरोत्तरम्॥

नारद स्मृति।



अध्याय पाँच

कोष

कोष-सञ्चय करने के सिद्धान्त—धन के बिना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता फिर भला राज्य-संचालन जैसा महान कार्य धन के बिना कैसे सम्पादित किया जा सकता है। इसी कारण प्राचीन भारत के राजशास्त्र-प्रणेताओं ने राज्य का एक प्रमुख अंग कोष माना है। कौटिल्य ने तो संसार में अर्थ को ही प्रधानता दी है।[1] उन्होंने अर्थ के अधीन ही धर्म और काम को माना है।[2] इसीलिए वह कोष को राज्य का आधार मानते हैं।[3] कौटिल्य का मत है कि राजा को सर्व प्रथम कोष-वृद्धि का चिन्तन करना चाहिए।[4]

मनु ने भी राज्य के सात अंगों में कोप को भी एक प्रधान अंग माना है। राजकोप के लिए धन-सञ्चय हेतु राजा को सतत प्रयत्न करना चाहिए। परन्तु कोष के लिए धन-सञ्चय कार्य किसी सिद्धान्त के अनुसार ही होना चाहिए। कोष के लिए धन-सञ्चय करने में किन सिद्धान्तों को अपनाना चाहिए इस विषय में मनु ने कतिपय संकेत किए हैं। इन संकेतों के अनुसार इस विषय में पहला सिद्धान्त अल्प-अल्प एवं शनैः-शनैः कर ग्रहण करने का सिद्धान्त है जिसका संक्षिप्त वर्णन यहाँ पर किया जाएगा।

(अ) अल्प-अल्प एवं शनैः-शनैः धन-सञ्चय का सिद्धान्त——मनु का मत है कि राजा को राजकोष के निमित्त प्रजा से अल्प-अल्प करों द्वारा शनैः-शनैः धन सञ्चय करना चाहिए। धन-सञ्चय करने के इस सिद्धान्त की स्थापना करने के लिए वह बछड़ा, जोंक और षट्पद (भ्रमर) का उदाहरण देते हैं। बछड़ा अल्प-अल्प मात्रा में शनैः-शनैः अपनी माता का पय-पान करता

१—अर्थ एव प्रधान इति कौटल्यः ॥
वार्ता १० अ० ७ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—अर्थ मूलौ हि धर्मकामाविति ॥ वार्ता ११ अ० ७ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—कोशपूर्वाः सर्वारम्भाः ॥ वार्ता १ अ० ८ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

४—तस्मात्पूर्वं कोशमवेक्षेत ॥ वार्ता २ अ० ८ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

है। परन्तु गाय पय-पान कराने में लेशमात्र भी क्लेश नहीं पाती वरन आनन्दित होती है। जल-जोंक शरीर में चिपट कर अल्प-अल्प करके शनै शनैः रक्त-पान करती है और तृप्त होकर अलग हो जाती है। परन्तु पशु को इस विषय का लेशमात्र भी बोध नहीं होने पाता कि उसके शरीर से रक्त-पान किया गया है। भ्रमर पुष्प पर बैठ कर अल्प-अल्प मात्रा में शनैः-शनैः पुष्प से मधु-पान करता रहता है परन्तु पुष्प को इस बात का भास भी नहीं होने पाता कि उससे उसका मधु ग्रहण किया जा रहा है। इन्हीं उदाहरणों के अनुसार राजा को अपनी प्रजा से अल्प-अल्प करके शनैः-शनैः राजकोष के निमित्त प्रजा से धन-सञ्चय करना चाहिए ऐसा मनु का मत है।[1]

(अ) प्रजा रक्षण का सिद्धान्त——मनु राजा को प्रजा से कर ग्रहण करने का उसी दशा में अधिकारी मानते हैं जब कि वह प्रजा की सम्यक प्रकार से रक्षा करने में समर्थ हो। मानवधर्मशास्त्र के अनुसार वही राजा स्वर्ग प्राप्ति का अधिकारी माना गया है जो प्रजा पालन में निरन्तर संलग्न रहता है। मानवधर्मशास्त्र में यह व्यवस्था स्पष्ट दी गयी है कि जो राजा प्रजा-रक्षण कार्य न करता हुआ राज कर (बलि) प्रजा से ग्रहण करता है उसके विरुद्ध इस लोक में प्रजा विद्रोह करती है और मरने के उपरान्त जब वह परलोक गमन करता है तो वहाँ जाकर वह नरक में वास करता है।[2] इसी प्रसंग में दूसरे स्थल पर मनु यह व्यवस्था देते हैं—प्रजा की रक्षा न करता हुआ यदि राजा प्रजा से करों द्वारा धन सञ्चय करता है तो ऐसा राजा नरक गामी होता है और वह प्रजा के सम्पूर्ण पापों के भार का वहन करने वाला बन जाता है।[3]

१—यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः।
तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः॥
श्लोक १२९ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

२—रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात्।
नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजा पालनतत्पराः॥
श्लोक २५३ अ० ९ मानवधर्मशास्त्र॥

अशासंस्तस्करान्यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः।
तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते॥
श्लोक २५४ अ० ९ मानवधर्मशास्त्र॥

३—योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः।
प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत॥
श्लोक ३०७ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम्।
तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम्॥
श्लोक ३०८ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

इस प्रकार मानवधर्मशास्त्र के अनुसार राजा को अपनी प्रजा से कर ग्रहण करने का अधिकार तभी तक वैध माना गया है जब तक कि राजा प्रजा पालन सम्बन्धी अपने कर्तव्य का पालन विधिवत करता रहता है। जैसे ही राजा प्रजा पालन सम्बन्धी अपने इस कर्त्तव्य से लेशमात्र भी विचलित होता है वह अपने इस अधिकार से भी वञ्चित हो जाता है।

प्रजा रक्षण के इस सिद्धान्त का समर्थन शुक्र ने भी किया है। शुक्र का मत है कि राजा प्रजा की रक्षा करने के कारण ही समस्त करों का भोगता माना गया है।[1] मार्कण्डेय पुराण में प्रजा से अधिक कर लेने वाले राजा को इष्टपूर्त्त का नाशक एवं चोर नाम से सम्बोधित कर उसकी निन्दा की गयी है। शुक्रनीति में ऐसे राजा की घोर निन्दा की गयी है जिसने नीति का परित्याग कर अपनी प्रजा के पीड़न से धन का संग्रह किया है। इस प्रकार के राजा का राज्य एक-न-एक दिन शत्रु के वश अवश्य हो जाता है।[2]

वास्तव में प्रजा रक्षण कार्य के निमित्त ही राजा का निर्माण किया गया है ऐसा मत समस्त धर्मशास्त्रकारों का है। इसलिए यदि राजा इस कार्य में उपेक्षा करता है तो वह वैध राजा न रह सकेगा और इसी लिए वह प्रजा पर कर लगाने और उनसे कर ग्रहण करने के अपने अधिकार से भी परित्यक्त समझा जाएगा।

(थ) लाभ पर कर लगाये जाने का सिद्धान्त—राजकोष के लिए कर लगाने का तीसरा सिद्धान्त जिस की ओर मानवधर्मशास्त्र में संकेत किया गया है, लाभ पर ही कर लगाये जाने का सिद्धान्त है। मानवधर्मशास्त्र में इस ओर संकेत करते हुए कि वस्तु अथवा सामग्री के मूलधन पर कर न लगाया जाए इस प्रकार की व्यवस्था दी गयी है—क्रय-विक्रय, मार्ग व्यय, भरण पोषण एवं रक्षादि व्यय और उनके निर्वाह सम्बन्धी व्ययों को देखकर व्यापारियों पर कर लगाने चाहिए।[3] राजा को अपनी प्रजा पर कर लगाते समय इस बात

१—भागभाग्रक्षणेदक्षोयथेन्द्रोनृपतिः तथा ॥
श्लोक ७२ अ० १ शुक्रनीति ॥
राजा रक्षार्थं सर्वभागभुक् ॥ श्लोक ७४ अ० १ शुक्रनीति ॥

२—त्यक्तवानीति बलंस्वीय प्रजापीडनतो धनम् ।
संचिन्तयेनतत्तस्य स्वराज्यं शत्रु साद्भवेत् ॥
श्लोक १२३ अ० ४ शुक्रनीति ॥

३—क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् ।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान् ॥
श्लोक १२७ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

का भली-भांति ध्यान रखना चाहिए कि प्रजा पर कर इस प्रकार लगाये जायें जिससे राष्ट्र और राजा दोनों का कल्याण हो [1]

मूलधन पर कर लगाना वर्जित था। मानवधर्मशास्त्र मे वर्णित इस सिद्धान्त का समर्थन शुक्रनीति में भी किया गया है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन शुक्रनीति मे इस प्रकार किया गया है--राजा को शुल्क ग्रहण करने में मूलधन को छोड़कर (लाभ का) बीसवां अथवा सोलहवां अंश व्यापारियों से शुल्क के रूप में लेना चाहिये। जिस व्यापारी को अपनी सामग्री वा वस्तु के विक्रय करने से मूलधन मात्र ही प्राप्त हुआ हो अथवा उसको मूलधन से न्यून मूल्य प्राप्त हुआ हो तो ऐसे व्यापारी से शुल्क ग्रहण नहीं करना चाहिए।[2] राजा को लाभ देख कर शुल्क निर्धारित करनी चाहिए और उसी के अनुसार उसे संग्रहीत करना चाहिए।[3]

मूलधन पर कर न लगाये जाने का कारण प्राचीन भारत के राजशास्त्र प्रणेताओं ने यह माना है कि इस सिद्धान्त के पालन करने से व्यापार में वृद्धि होती है और जिस से व्यापारी समृद्ध और सम्पन्न होते है। व्यापारी के समृद्ध और सम्पन्न होने से राजकोष की वृद्धि का भी सुअवसर प्राप्त हो सकता है।

(इ) अधिक कर लगाने का निषेध--मानवधर्मशास्त्र में प्रजा पर मात्रा से अधिक कर लगाने का निषेध किया गया है। राजा में प्रजा से धन हरण करने की लिप्सा होने से राजा और प्रजा दोनों का नाश होता है ऐसा मनु का मत है। मनु का आदेश है कि राजा को अपनी प्रजा पर इतनी मात्रा मे कर लगाना चाहिए जिससे न तो प्रजा का ही मूलोच्छेद हो और न राजा का ही। प्रजा से उसकी सामर्थ्य के बाहर कर लेना अथवा उससे इतनी अल्प मात्रा में कर लेना जिस से राज्य संचालन कार्य सम्पादित न हो सके इन दोनों प्रकार की नीति के अनुसरण करने का निषेध मानवधर्मशास्त्र में किया गया है। प्रथम प्रकार की नीति का आश्रय लेने से प्रजा का मूलोच्छेद होता है और दूसरी प्रकार की नीति का अनुसरण करने से राजा का नाश होता है। इसलिए राजा को ऐसी नीतिका अनुसरण करना चाहिए जिससे प्रजा और राजा दोनोंका मूलोच्छेद न

१—यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम्

तथाऽवेक्ष्य नृपोराष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान् ॥

श्लोक १२८ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—विंशांशं वा षोड्शांशं शुल्कं मूलाविरोधकम् ।

न हीनसम मूल्याद्धि शुल्कं विक्रेतृतो हरेत् ॥

श्लोक २२० अ० ४ शुक्रनीति ॥

३—लाभंदृष्ट्वा हरेच्छुल्कं क्रेतृतश्च सदा नृपः ॥

श्लोक २२१ अ० ४ शुक्रनीति ॥

हो वरन उनका कल्याण हो। राजा को कार्य के अनुसार तीक्ष्ण और मृदु होना चाहिए क्योंकि इस प्रकार का आचरण धारण करने से राजा सब का सम्मत होता है।[१] मनु प्रजा के शोषण किए जाने के विरुद्ध अपना मत प्रकट करते हुए इस प्रकार व्यवस्था देते है-जो राजा मूर्खता वश अपने राष्ट्र का शोषण करता है वह राज्य से शीघ्र भ्रष्ट होकर अपने बन्धु बान्धव एवं अपना स्वयं नाश करता है।[२] जिस प्रकार शरीर के शोषण से प्राणियों के प्राण क्षीण होते है उसी प्रकार राष्ट्र के शोषण करने से राजाओं के प्राण क्षीण होते हैं।[३] इस प्रकार मानवधर्मशास्त्र में प्रजा के शोषण करने की नीति का घोर विरोध किया गया है।

मानवधर्मशास्त्र में प्रतिपादित इस नीति का समर्थन महाभारत में भी किया गया है। महाभारत नें प्रजा की सामर्थ्य के बाहर कर लगाने वाले राजा को अतिखादी नाम से सम्बोधित कर उसकी निन्दा की गयी है। महाभारत में यह व्यवस्था स्पष्ट दी गयी है कि राजा के अतिखादी हो जाने से उससे प्रजा द्वेष करने लगती है।[४] महाभारत में उस राजा की निन्दा की गयी है जिसके राज्य में कृषक एवं व्यापारी लोग कर भार से लदे होने से दुखी रहते है।[५]

१—नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषांचातितृष्णया।
उच्छिन्दन्ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत्॥
श्लोक १३९ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात्कार्यं वीक्ष्य महीपतिः।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति सम्मतः॥
श्लोक १४० अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

२—मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया।
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः॥
श्लोक १११ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

३—शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा।
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्र कर्षणात्॥
श्लोक ११२ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

४—प्रद्विषन्ति परिख्यातं राजानमतिखादिनम्॥
श्लोक १६ अ० ८७ शा० पर्व॥

५—कच्चित्ते वणिजो राष्ट्रे नोद्विजन्ति करार्दिताः॥
श्लोक २३ अ० ८६ शा० पर्व॥
कच्चित्ते कृषिकराराष्ट्रं न जहत्यति पीडिताः॥
श्लोक २३ अ० ८६ शा० पर्व॥

मार्कण्डेय पुराण में प्रजा से अधिक कर लेने वाले राजा को इष्टपूर्तका नाशक एवं चोर नाम से सम्बोधित कर उसकी निन्दा की गयी है।[१]

इस प्रकार मनु ने प्रजा के शोषण नीति का जो विरोध किया है उसका समर्थन महाभारत एव अन्य ग्रंथों में भी किया गया है।

धन संग्रह करने के साधन--राजकोप मे जो धन-धान्य वा आवश्यक सामग्री संग्रहीत की जाती थी उसका प्रधान अंश वह धन-धान्य वा सामग्री होती थी जो राजा द्वारा लगाए गए विविध प्रकार के करों द्वारा संचय की जाती थी। इन करों के अनेक रूप एवं प्रकार होते थे। मानवधर्मशास्त्र में भी इन करों में से कतिपय करों का उल्लेख किया गया है। इन करों में बलि, शुल्क, दण्ड, भाग आदि कर मुख्य है।

(क) बलि--प्रजा के रक्षणार्थ राजा के द्वारा जो व्यवस्था की जाती है उसके कार्यान्वित करने के लिए राजा को धन की आवश्यकता होती है। इस धन की प्राप्ति हेतु प्रजा राजा को कर रूप में धन-धान्य अथवा अन्य आवश्यक सामग्री प्रदान करती थी। इस कर को प्राचीन भारत में बलि नाम से सम्बोधित किया गया है। यह कर विशेष रूप में ग्राम वासियों पर लगता था और जो मास-मास में अथवा वर्ष के अन्त में संग्रहीत कर राजकोश में सञ्चय हेतु भेजा जाता था। मानवधर्मशास्त्र के अध्ययन करने से विदित होता है कि अन्न, पान और ईन्धनादि का जो ग्राम की उपज के अनुसार ग्रामवासियों से संग्रहीत कर राजकोष में सञ्चय हेतु ग्राम के अधिकारी के द्वारा भेजा जाता था षडांश रूप में ग्रहण करना चाहिए ऐसा मनु का मत है।[२] महाभारत में भी बलि कर का रूप इसी प्रकार का माना गया है। महाभारत में भी यह स्पष्ट व्यवस्था दी गयी है कि यह कर धान्यादि की उपज का षडांश लिया जाना चाहिए।[३] अर्थशास्त्र में भी बलि कर के ग्रहण करने का अधिकार राजा को दिया गया है। अर्थशास्त्र मे यह व्यवस्था दी गयी है कि धान्य की उपज का षडांश राजा को प्रजा से प्राप्त होना चाहिए।[४] यद्यपि इस प्रसंग में कौटिल्य ने बलि शब्द का प्रयोग नही किया है परन्तु जो वर्णन इस विषय में

१—इष्टपूर्त्तविनाशाय तद्राज्ञश्चौरकर्मिणः॥

श्लोक १२५ अ० १६ मार्कण्डेय पुराण॥

२—बलिषड्भागहारिणम्॥ श्लोक ३०८ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

३—बलिषष्ठेन × × × धनागमम्॥ श्लोक १० अ० ७१ शा० पर्व॥

स षड्भागं × × ×॥ श्लोक २५ अ० ६९ शा० पर्व॥

४—धान्यषड्भागं × × × प्रकल्पयामासु॥

वार्ता ७ अ० १३ अधि० १ अर्थशास्त्र॥

दिया हुआ है उस से ज्ञात होता है कि कौटिल्य का यहाँ बलि कर से ही तात्पर्य है। कौटिल्य के मतानुसार अन्न उत्पन्न करने वाले प्रत्येक व्यक्ति पर यह कर लगना चाहिए यहाँ तक कि बनवासी लोगों पर भी जो कि उञ्छवृत्ति के अनुसार धान्य एकत्र करते हैं यह कर लगाना चाहिए। जो धान्य वह उञ्छवृत्ति से एकत्र करते हैं उसके षडांश को उन्हें बलि रूप में राजा के लिए प्रदान करना चाहिए।[1]

मानवधर्मशास्त्र के अनुसार बलि कर का अधिकारी प्रत्येक राजा नहीं होता। केवल वह राजा ही बलि ग्रहण करने का अधिकारी माना गया है जो प्रजा की रक्षा हेतु इस कर द्वारा प्राप्त धन-धान्य अथवा अन्य आवश्यक सामग्री का सदुपयोग करता है। मानवधर्मशास्त्र में उस राजा की निन्दा की गयी है जो प्रजा से बलि तो ग्रहण करता है परन्तु प्रजा की रक्षा करने में असमर्थ रहता है। इस विषय में मानवधर्मशास्त्र में यह व्यवस्था दी गयी है—जो राजा चोर-डाकुओं से प्रजा की रक्षा नहीं करता है परन्तु प्रजा से बलि ग्रहण करता है ऐसे राजा की प्रजा अपने राजा के विरुद्ध विद्रोह करती है और उसका स्वर्ग से भी पतन हो जाता है।[2] इसी प्रसंग में मानवधर्मशास्त्र मे यह व्यवस्था दी गयी है—जो राजा अपनी प्रजा की रक्षा नही करता है परन्तु उस से धान्य की उपज का षडांश बलि करके रूप में ग्रहण करता है ऐसा राजा प्रजा के समस्त पापों को धारण करता है।[3] राजा को बलि के सग्रह करने के निमित्त किस प्रकार के मनुष्यों को नियुक्त करना चाहिए इस विषय में मानवधर्मशास्त्र में यह अदेश दिया गया है—आप्त पुरुषों के द्वारा राजा को प्रजा से वार्षिक बलि सचय करनी चाहिए और उस बलि के द्वारा प्रजा का पालन उसी प्रकार करना चाहिए जैसे पिता अपने पुत्र का पालन करता हैं।[4]

महाभारत में भी मनु के उपर्युक्त विचारों की सम्पुष्टि की गयी है। इस

१—तस्मादुञ्छ षड्भागमारण्यकापि निवपन्ति ॥
वार्ता ६ अ० १३ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—अशासंस्तस्करान्यस्तु बलिंग्रहृणाति पार्थिवः।
तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्चपरिहीयते ॥
श्लोक २५४ अ० ६ मानवधर्मशास्त्र ॥

३—अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम्।
तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम् ॥
श्लोक ३०८ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

४—सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहार येद्बलिम्।
स्याच्चाम्नायपरो लोके वर्तेत पितृवन्नृषु ॥
श्लोक ८० अ०७ मानवधर्मशास्त्र ॥

विषय में महाभारत में यह व्यवस्था दी गयी है कि राजा को अपनी प्रजा से बलि ग्रहण करनी चाहिए यह षडांश होना चाहिए । राजा को बलि से प्राप्त धन-धान्यादि का व्यय प्रजा रक्षण कार्य के निमित्त करना चाहिए ।[1] महाभारत में यह व्यवस्था स्पष्ट दी गयी है कि राजा को अपनी प्रजा से (उपज का) षडांश बलि के रूप में ग्रहण करना चाहिए । जो राजा प्रजा से बलि तो ग्रहण करता है परन्तु वह प्रजा की सम्यक् प्रकार से रक्षा नहीं करता वह राजा प्रजा का तस्कर (चोर) है । इस प्रकार महाभारतकार ने उस राजा को चोर माना है जो प्रजा से बलि तो ग्रहण करता है परन्तु उससे प्रजा की रक्षा नहीं करता है । कौटिल्य ने भी बलि का अधिकारी उसी राजा को माना है जो बलि को प्रजा रक्षण कार्य में व्यय करता है ।[2]

मार्कण्डेय पुराण में भी बलि कर (उपज का) षड्भाग राजा को अपनी प्रजा से ग्रहण कर उससे राजा को प्रजा की रक्षा करनी चाहिए ऐसा आदेश दिया गया है । साथ ही यह भी व्यवस्था दी गयी है कि जो राजा षड्भाग बलि कर तो ग्रहण करता है परन्तु प्रजा की रक्षा नहीं करता है वह राजा नरकगामी होता है इस में सन्देह नही ।[3]

इस प्रकार राजकोष की आय का एक प्रमुख साधन बलि कर होना चाहिए जो प्रजा रक्षण कार्य में व्यय होना चाहिए मनु के इस मत का समर्थन महाभारत, अर्थशास्त्र और पुराणों में किया गया है ।

(ख) शुल्क मानवधर्मशास्त्र के अनुसार राजकोष की वृद्धि का एक साधन शुल्क कर द्वारा प्राप्त धन भी था ।[4] यह कर उस व्यापारिक सामग्री अथवा वस्तुओं पर लगाया जाता था जो बाजारों वा हाटों में विक्रय हेतु वणिक गण ले जाया करते थे । मानवधर्मशास्त्र में वर्णित शुल्क नाम का कर आधुनिक युग में चुगी कर से समानता रखता है ।

शुक्र ने शुल्क कर की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि क्रय कर्त्ता अथवा विक्रय कर्त्ता को जो धन राजा को कर के रूप में क्रय या विक्रय की जाने वाली

१—आददीत बलिं चापि प्रजाभ्यः कुरुनन्दन ।
स षद्भागमपि प्राज्ञस्तासामेवाभिगुप्तये ।।
श्लोक २५ अ० ६९ शा० पर्व ।।

२—तस्मादुञ्छषड्भागमारण्यका अपि निवपन्ति तस्यैतद्भागधेयं योऽस्मान्गोपायतीति ।। वार्ता ९ अ० १३ अधि० १ अर्थशास्त्र ।

३—गृह्णातो बलि षड्भागं नृपतेर्नरको ध्रुवम् ।।
श्लोक १२६ अ० १६ मार्कण्डेय पुराण ।।

४—योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः ।।
श्लोक ३०७ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ।।

सामग्री अथवा वस्तु पर देना होता था शुल्क कर कहलाता था।[1] शुल्क संचय करने की सुविधा हेतु शुल्क के स्थान होते थे। मानवधर्मशास्त्र में यह स्पष्ट नहीं बतलाया गया है कि यह स्थान कहाँ निर्धारित किए जाते थे। प्रसंग से विदित होता है कि बाजारों को जाने वाले मार्गों या राज्य अथवा नगर की सीमा पर चौकियाँ होती थी जहाँ पर शुल्क कर व्यापारियों से ग्रहण किया जाता होगा। मानवधर्मशास्त्र में उस व्यक्ति को दण्ड विधान किया गया है जो शुल्क-स्थान (शुल्क गृह) पर बिना शुल्क दिये हुए दूसरे मार्ग से बाजार में जाकर समग्री या वस्तु का क्रय-विक्रय करता है। मानवधर्मशास्त्र में दी गयी यह व्यवस्था इस विषय की पुष्टि करती है कि मानवधर्मशास्त्र में शुल्क-संचय हेतु निर्धारित स्थानों के राज्य में होने की व्यवस्था थी। इसके अतिरिक्त यह भी नियम था कि कोई व्यक्ति यदि इन स्थानों पर शुल्क कर न दिए हुए अपना माल बेंचता अथवा अन्य का माल क्रय कर्त्ता, या बेसमय में क्रय-विक्रय करता अथवा गिनती या तौल में झूठ बोलता तो उस व्यक्ति पर निर्धारित राज कर का आठ गुना अथवा जितने मूल्य का झूठ बोला हो उसका आठ गुना दण्ड होता था।[2] शुक्र ने भी शुल्क-सचय करने के स्थान निर्धारित किए हैं। उनका मत है कि शुल्क-संचय करने के स्थान हाटों के मार्ग और कर सीमा आदि होने चाहिए।[3] कौटिल्य भी इस ओर संकेत करते हे कि राज्य में ऐसे स्थान राज्य की ओर से नियत होते थे जहाँ शुल्क-सञ्चय की जाती थी।[4] मानवधर्मशास्त्र में शुल्क की दर विभिन्न प्रकार की सामग्री के अनुसार नियत की जाती थी। इसी प्रसंग में एक स्थल पर यह दर लाभ का बीसवाँ अंश निर्धारित किया गया है। इस विषय में मानवधर्मशास्त्र में यह व्यवस्था दी गयी है—व्यापारियों को जो लाभ हो उसका बीसवां भाग राजा को शुल्क कर रूप में मिलना चाहिए।[5] शुल्क कर लगाए जाने के विषय में इस ओर विशेष ध्यान

१—विक्रेतृक्रेतृतो राजभागः शुल्कमुदाहृतम् ॥

इलोक २१७ अ० ४ शुक्रनीति ॥

२—शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रयविक्रयी।

मिथ्यावादी च संख्याने दाप्यो ऽष्टगुणमत्ययम् ॥

इलोक ४०० अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

३—शुल्कदेशाहट्टमार्गाः करसीमाः प्रकीर्तिताः ॥

इलोक २१८ अ० ४ शुक्रनीति ॥

४—शुल्कस्थाने नष्टापहृतोत्पन्नं तिष्ठेत् ॥

वार्ता २२ अ० १६ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

५—शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्यविचक्षणाः।

कुर्युरर्घं यथापण्यं ततो विंशं नृपो हरेत् ॥

इलोक ३९८ अ०८ मानवधर्मशास्त्र ॥

किया जाता था कि व्यापारी को भी लाभ हो तब यह कर लगाया जाए। इस विषय में मानवधर्मशास्त्र में यह व्यवस्था दी गयी है—क्रय-विक्रय, रक्षा सम्बन्धी व्यय तथा व्यापारी के भरण-पोषण आदि विषयों को ध्यान में रखकर शुल्क निर्धारित करनी चाहिए[१]। व्यापारी और राजा दोनों को फल अच्छा रहे ऐसा विचार कर राजा को कर लगाना चाहिए।[२]

शुक्रनीति में शुल्क कर के विषय में यह व्यवस्था दी गयी है—राजा को वस्तु या सामग्री के विक्रय कर्त्ता अथवा क्रयकर्त्ता से लागत को छोड़कर लाभ का बत्तीसवां, सोलहवां अथवा बीसवां भाग शुल्क रूप में ग्रहण करना चाहिए[३]। वस्तु अथवा सामग्री की लागत पर जैसा लाभ प्राप्त हुआ हो उसी के अनुसार शुल्क ग्रहण करनी चाहिए[४]। जिस वस्तु अथवा सामग्री पर व्यापारी को उस की लागत के बराबर ही मूल्य प्राप्त हुआ हो अथवा लागत से न्यून मूल्य प्राप्त हुआ हो राजा को ऐसी वस्तु अथवा सामग्री पर शुल्क नहीं लेनी चाहिए[५]। शुक्र भी शुल्क नामक कर की दर निर्धारित करते हुए लिखते हैं कि स्वभूमि (स्वदेश) तथा पर भूमि (दूसरे के राज्य में) उत्पन्न दोनों प्रकार की वस्तुओं के विक्रय में राजा को प्रजा के लाभ का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। यदि राजा को बहुत बड़ा लाभ हो रहा हो, परन्तु उससे प्रजा पीड़ित हो रही हो तो राजा को इस प्रकार के लाभ को रोक देना चाहिए।[६] ब्याजी वस्तुओं पर सोलहवां

१—क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च स परिव्ययम्।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजोदापयेत्करान्॥
श्लोक १२७ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

२—यथा फलेन युज्येत राजा कर्त्ता च कर्मणाम्।
तथाऽवेक्ष्य नृपो राष्ट्रं कल्पयेत्सततं करान्॥
श्लोक १२८ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

३—द्वात्रिंशांशं हरेद्राजा विक्रेतुः क्रेतुरेववा॥
श्लोक २१९ अ० ४ शुक्रनीति॥
विंशांशंषोडशांशं शुल्कं मूलाविरोधकम्॥
श्लोक २२० अ० ४ शुक्रनीति॥

४—लाभंदृष्ट्वा हरेच्छुल्कं क्रेतृतश्चसदानृपः॥
श्लोक २२१ अ० ४ शुक्रनीति॥

५—नहीनसम मूल्याद्धि शुल्कं विक्रेतृतो हरेत्॥
श्लोक २२० अ० ४ शुक्रनीति॥

६—उभयं च प्रजानामनुग्रहेण विक्रापयेत्॥
वार्ता ७ अ० १६ अधि० २ अर्थशास्त्र॥
स्थूलमपि च लाभं प्रजानामौपघातिकं वारयेत्॥
वार्ता ८ अ० १६ अधि० २ अर्थशास्त्र॥

भाग शुल्क लेनी चाहिए[1]। जो वस्तुएँ तुलामान (तोलने योग्य) हों उन पर बीसवा भाग,[2] और जो द्रव्य गिने जा सकते हैं उनका ग्यारहवां भाग शुल्क के रूप में लेना चाहिए[3]।

महाभारत में भी शुल्क नामके कर का उल्लेख है। महाभारत के शान्ति पर्व में शुल्क नाम के कर का उल्लेख करते हुए यह व्यवस्था दी गयी है कि शुल्क कर सञ्चय करने के लिए राजाको हितैषी आप्त पुरुषो की नियुक्ति करनी चाहिए।[4] भीष्म के मतानुसार राजा को वणिक लोगों पर उनके योगक्षेम को देखकर कर लगाना चाहिये[5]।

इस प्रकार मानवधर्मशास्त्र में शुल्क कर लगाने के सम्बन्ध म जो सिद्धान्त स्थापित किया गया है उसका समर्थन शुक्र, कौटिल्य और व्यास आदि ने भी उसी रूप में किया है।

मानवधर्मशास्त्र में बाजारों के संघठित करने एवं उनके नियमानुसार संचालित किये जाने के हेतु भी कतिपय व्यवस्थाएं दी गयी हैं। मनु यह स्पष्ट व्यवस्था देते हैं कि क्रय-विक्रय सम्बन्धी इन नियमों को भंग करने वाले व्यक्तियों को दण्ड दिया जाना चाहिए। इस विषय में एक नियम यह भी था कि राजा द्वारा निषेध किये गए व्यापारिक सामग्री के बेचने अथवा बाजारों के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर बिना कर दिए हुए बेचने से विक्रेता का सर्वस्व हरण कर लिया जाना चाहिए।[6]

बाजार के संघठन का एक यह नियम बतलाया गया है कि राजा को बाजार में प्रत्येक वस्तु अथवा सामग्री के विक्रय की दर आने-जाने का व्यय,

---

१—षोड़शभागो मानव्याजो ॥
वार्ता १२ अ० १६ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

२—विंशति भागस्तुलामानम् ॥
वार्ता १३ अ० १६ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

३—गण्यपण्यानामेकादश भागः ॥
वार्ता १४ अ० १६ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

४—आकरे लवणे शुल्के तरे नागबले तथा ।
न्यसेदमात्यान्नृपतिः स्वाप्तान्वापुरुषान्हितान् ॥
श्लोक २९ अ० ६९ शा० पर्व ॥

५—योगक्षमं च संप्रेक्ष्य वणिजां कारयेत्करां ॥
श्लोक १४ अ० ८७ शा० पर्व ॥

६—राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च ।
तानि निर्हरतो लोभात्सर्वहारं हरेन्नृपः ॥
श्लोक ३९९ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

स्थान तथा वृद्धि और क्षय दोनों इन समस्त विषयों को विचार कर वस्तुओं के क्रय-विक्रय की दर नियत करनी चाहिए।[1] पाँच-पाँच दिन अथवा पक्ष-पक्ष की दर को राजा को प्रत्यक्ष नियत करनी चाहिए।[2] बाजार में जिन माप के एवं तौल के साधनों का प्रयोग किया जाए उनकी परीक्षा भलीभाँति होनी चाहिए। प्रति छः मास के उपरान्त भलीभाति परीक्षा की जानी चाहिए।[3] बाजार में विक्रय हेतु वस्तु में उसी से मिलती हुई वस्तु को मिलाकर बेचने का निषेध था। तौल में कम वस्तु देने का भी निषेध किया गया है। इस विषय में मानवधर्मशास्त्र में यह आदेश दिया गया है--एक वस्तु दूसरी वस्तु के रूप में मिलती हो तो ऐसी वस्तु को दूसरी वस्तु के बदले छल से बेचना उचित नहीं है। सार रहित, तौल में कम, और बिना दिखलाए हुए (ढकी हुई) वस्तु का बाजार में बेचा जाना उचित नहीं है।[4]

इस प्रकार मानवधर्मशास्त्र में बाजार के संघठन एवं उसके विधिवत संचालन हेतु नियमों का वर्णन किया गया है जिससे यह विदित होता है कि बाजारों पर राज्य का नियंत्रण रहता था और उनके विधिवत संचालन हेतु राज्य को व्यय करने होते थे जिनकी पूर्ति शुल्क कर द्वारा संचितत किए गए धन से होती थी।

(ग)—दण्ड—दण्ड द्वारा प्राप्त धन भी राजकोष की वृद्धि का एक साधन मानवधर्मशास्त्र में माना गया है। मानवधर्मशास्त्र के अनुसार जो राजा इस प्रकार से प्राप्त धन का प्रजा रक्षण कार्य में उपयोग नहीं करता है वह राजा शीघ्र ही नरक को जाता है।[5] मानवधर्मशास्त्र में दण्ड के दस स्थान बतलाए

१—आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ।
विचार्य सर्वपण्यानां कारयेत्क्रयविक्रयौ॥
श्लोक ४०१ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

२—पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे पक्षेऽथवा गते।
कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः॥
श्लोक ४०२ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र।

३—तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुरक्षितम्।
षट्सु षट्सु च कारेषु पुनरेव परीक्षयेत्॥
श्लोक ४०३ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र।

४—नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रयमर्हति।
न चासरं न न्यूनं न दूरेण तिरोहितम्॥
श्लोक २०३ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

५—योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः।
प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत्॥
श्लोक ३०७ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

गए हैं । यह दस स्थान लिङ्ग, उदर, जीभ, हाथ, पाँव, नेत्र, नाक, कान, शरीर और धन बतलाए गए है[1] । इस प्रकार दण्ड का एक रूप धन हरण भी माना गया है । राज्य के नियमों को भंग करने वाले व्यक्तियों को राज्य की ओर से इस प्रकार दस प्रकार के दण्ड दिए जाते थे । इन में एक प्रकार अर्थ दण्ड भी था । मानवधर्मशास्त्र में दण्ड के इन दस स्थानों का वर्णन देते हुए यह स्पष्ट व्यवस्था दी गयी है कि दण्ड के अनुबन्ध को समझकर देश काल को ठीक ठीक जानकर और दोषी को सामर्थ्य एवं उसके अपराध को देखकर राजा को दण्ड के योग्य व्यक्तियों को दण्ड देना चाहिए[2] । इस प्रकार व्यक्ति के दोष और उसकी सामर्थ्य को देखकर अर्थ दण्ड भी देना चाहिए और इस प्रकार दण्ड द्वारा प्राप्त धन राजकोष में सञ्चय होना चाहिए ऐसा मनु कामत है ।

अर्थदण्ड के कतिपय उदाहरण मानवधर्मशास्त्र में दिए गए हैं जिनम से कुछ उदाहरण यहां पर भी संक्षेप में दिए जाएंगे । मनु ने मिथ्या भाषण के करने वाले को किन्हीं परिस्थितियों में अर्थ दण्ड देने की व्यवस्था दी है । इस विषय में वह कहते हैं कि लोभ के कारण (मिथ्या साक्ष्य देने से) एक हजार पण दण्ड होना चाहिए और मोह से मिथ्या बोलने वाले पर प्रथम साहस दण्ड और भय से मिथ्या साक्ष्य देने से दो मध्यम साहस, मैत्री से मिथ्या साक्ष्य देने से प्रथम साहस का चतुर्गुणा दण्ड देना चाहिए[3] । ग्राम वा देश के संघों में जो पुरुष किसी विषय का वचन देकर फिर उसे पूरा नही करता है तो ऐसे पुरुष को राजा को राष्ट्र से निर्वासित कर देना चाहिए , और प्रतिज्ञा के भंग करने वाले उस निर्वासित को पकड़वा कर उससे राजा को चार सुवर्ण (सिक्का विशेष) छः निष्क और एक चांदी का शतमान दण्ड रूप में ग्रहण करना चाहिए ।[4]

१—उपस्थमुदरं लिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम् ।
चक्षुर्नासा चकर्णौ च धनं देहस्तथैव च ॥
श्लोक १२५ अ० ८ मानवधर्मशात्र ॥

२—अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः ।
सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ॥
श्लोक १२६ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

३—लोभात्सहस्त्रं दण्डचस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम् ।
भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम् ॥
श्लोक १२० अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

४—यो ग्रामदेशसंघानाम् कृत्वा सत्येन संविदम् ।
विसंववेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥
श्लोक २१६ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥
निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभिचारिणम् ।
चतुः सुवर्णान्षण्णिष्कांश्छतमानं च राजतम् ॥
श्लोक २२० अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

जिस खेत में बाड़ लगी हुई है मार्ग के पास स्थित ऐसे क्षेत्र में अथवा ग्राम के समीपवर्ती क्षेत्र में यदि चरवाहा साथ होने पर भी पशु क्षेत्र को चरें तो चरवाहे पर एक सौ पण दण्ड होना चाहिए। [१] द्विजातियों को अपने समान वर्ण को गाली आदि देने पर बारह पण का दण्ड मिलना चाहिए। न कहने योग्य अपशब्दों के प्रयोग करने में उसका दो गुना दण्ड होना चाहिए। [२]

इसी प्रकार की अनेक व्यवस्थाएँ मानवधर्मशास्त्र में अर्थ दण्ड दिए जाने के विषय मे दी गयी है। चोरी, साहस (डाका), व्यभिचार, मिथ्या भाषण, हिंसा आदि-आदि दोषों के निमित्त जहाँ अन्य प्रकार के दण्डों का विधान किया गया है वही पर दोषी को अर्थ दण्ड दिए जाने के भी आदेश दिये गये हैं। राज्य में जो व्यक्ति, राज्य के द्वारा स्थापित मर्यादों को भंग करते थे उनको अन्य प्रकार के दण्डों के अतिरिक्त अर्थ दण्ड भी दिए जाते थे। इन अर्थ दण्डों के द्वारा जो धन प्राप्त होता था उसका बहुत बड़ा अंश राजकोष में संग्रहीत किया जाता था और फिर यही धन प्रजा के कल्याण हेतु किए गये कार्यों में व्यय किया जाता था।

महाभारत में भी दण्ड द्वारा प्राप्त धन से राजकोष की वृद्धि होती थी ऐसा माना गया है। महाभारत के शान्ति पर्व में भीष्म ने दण्ड के चार प्रकार बतलाये हैं। दण्ड के इन चार प्रकारों को स्पष्ट करते हुए भीष्म ने यह व्यवस्था दी है—शरीर और मन की तृप्ति हेतु जिन लोगों ने धर्म के नियमों का अतिक्रमण किया है उन को धर्म पूर्वक दण्ड देकर प्रजा की रक्षा करनी उचित है। इस दण्ड का प्रयोग इच्छानुसार करना उचित नहीं है। दण्ड चार प्रकार का माना गया है। दुर्वचन से निग्रह करना वाक्‌दण्ड, हिरण्य से निग्रह करना हिरण्य दण्ड (अर्थ दण्ड), शरीर की अंग हानि करना शारीरिक दण्ड और अधिक अपराध के कारण वध रूपी प्राणदण्ड यह चार प्रकार के दण्ड माने गए हैं। [३]

१—पथि क्षेत्रे परिवृते ग्रामान्तीयेऽथवा पुनः।
सपालः शतदण्डार्हो विपालांवारयेत्पशून् ॥
२४० अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—समवर्णे द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे।
वादेष्ववचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत् ॥
२६९ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

३—विभज्य दण्डं रक्ष्यास्तु धर्मतो न यदृच्छया।
दुर्वाचा निग्रहो दण्डो हिरण्यबहुलस्तथा ॥
श्लोक ७० अ० १६६ शा० पर्व ॥

व्यङ्गता च शरीरस्य वधो वाऽनल्पकारणात्।
असेरेतानि रूपाणि दुर्वारादीनि निर्दिशेत् ॥
श्लोक ७१ अ० १६६ शा० पर्व ॥

इस प्रकार भीष्म के मतानुसार दण्ड का एक प्रकार अर्थ दण्ड भी माना गया है। इस विषय में भीष्म स्पष्ट आदेश देते है कि राजा को अपराधियों को उनके अपराध के अनुसार अर्थ दण्ड देना चाहिए और इस प्रकार दण्ड द्वारा प्राप्त धन राजा कीं आय (राज कोष) का एक साधन होता है इस प्रकार इन शब्दों में भीष्म राजकोष के निमित्त अपराधियों के अपराध के अनुसार शास्त्रानुसार अर्थदण्ड के द्वारा राजकोष के निमित्त धन-सञ्चय करने की व्यवस्था देते हैं। [१]

कौटलीय अर्थशास्त्र में भी राजकोष की वृद्धि के निमित्त धन-सञ्चय का एक साधन अर्थ दण्ड द्वारा प्राप्त धन माना गया है। अर्थशास्त्र में अनेक स्थलों पर अर्थ दण्ड के उदाहरण दिए गए हैं। इन में से कुछ इस प्रकार हैं—दिन या रात में सुरक्षित आधे माशा से दो माशे की वस्तु को बल पूर्वक छीनने पर छः पण दण्ड होना चाहिए। दिन अथवा रात में शस्त्र लेकर माशा के चतुर्थांश की वस्तु छीनने पर भी दण्ड होना चाहिए[२]। अथवा अपराध के अनुसार अर्थ दण्ड होना चाहिए[३]। राजा को प्रथम अपने कर्मचारियों को दण्ड द्वारा ठीक चलाना चाहिए। फिर नियमानुसार दण्ड व्यवस्था द्वारा राजकीय अध्यक्ष, पुर और देश की जनता का ठीक-ठीक शासन करना चाहिए[४]। इस प्रकार कौटिल्य भी दण्ड व्यवस्था का प्रतिपादन करते हैं और इस व्यवस्था के अन्तर्गत ही अर्थ दण्ड व्यवस्था भी सम्मिलित थी।

शुक्र ने भी राजकोष की वृद्धि का एक साधन अर्थ दण्ड माना है।[५] दोषी के दोष के अनुसार अर्थ-दण्ड दिया जाता था। अर्थ दण्ड के कतिपय उदाहरण

१—बलिषष्ठेन शुक्तेन दण्डेनाथापराधिनाम्।
शास्त्रानीतेन लिप्सेथा वेतनेन धनागमम्॥
श्लोक १० अ० ७१ शा० पर्व॥

२—प्रसह्य दिवारात्रौ वान्तर्याममेव हर्तोऽर्धमूल्येष्वेत एव द्विगुणा दण्डाः॥
वार्ता ३१ अ० ९ अधि० ४ अर्थशास्त्र॥
प्रसह्य दिवारात्रौ वा मशस्त्रस्यापहरतश्चतुर्भागमूलेष्वेत एव दण्डाः॥
वार्ता ३२ अ० ९ अधि० ४ अर्थशास्त्र॥

३—यथापराधं वा॥
वार्ता ३४ अ० ९ अधि० ४ अर्थशास्त्र॥

४—एवमर्थचरान्पूर्वं राजा दण्डेन शोधयेत्।
शोधयेयुश्च शुद्धार्थाः पौरजान्नदानभिः॥
श्लोक ६३ अ० ९ अधि० ४ अर्थशास्त्र॥

५—शुल्कदण्डाकर कर भाटकोपायनादिभिः।
इतरः कीर्तितस्तज्ज्ञै रायो लेख विशारदैः॥
श्लोक ३२५ अ० २ शुक्रनीति॥

शुक्रनीति में भी दिए गए है—एक सहस्त्र पण का अर्थ दण्ड उत्तम साहस दण्ड कहलाता था। दश माशाभर ताँबे का एक सिक्का जो राजचिन्ह युक्त होता था पण कहलाता था। डेढ़ सौ कौड़ियों (वसीट) का जो मूल्य होता था उस मूल्य के बराबर मूल्य का एक सिक्का होता था जो कर्षापण कहलाता था।[१] एक सहस्त्र पण से आधा दण्ड मध्यम साहस और उससे आधा प्रथम साहस दण्ड होता था। इस प्रकार मध्यम और उत्तम साहस दण्ड को जानना चाहिये। मध्यम साहस अपराध में मध्यम साहस दण्ड होना चाहिए और उत्तम साहस अपराध में उत्तम साहस दण्ड का विधान किया गया है[२]। इस प्रकार साहस अभियोगों में अर्थ दण्ड भी दिए जाते थे जो साहस दण्ड के नाम से प्रसिद्ध थे। दण्ड के रूप में इस प्रकार प्राप्त हुआ धन राजकोष में संग्रह किया जाता था।

इस प्रकार राजकोष की वृद्धि के इस साधन का जिसकी स्थापना मनु ने मानवधर्मशास्त्र में की है समर्थन महाभारतकार, कौटिल्य तथा शुक्र ने भी उसी रूप में की है।

(घ) **कर**—उपर्युक्त करो के अतिरिक्त कतिपय अन्य प्रकार केभी कर थे जिनको मानवधर्मशास्त्र में कर नाम से ही सम्बोधित किया गया है। इन करों में एक सन्तरण कर भी था।

(अ) सन्तरण कर—नदी, नालों आदि को पार करने के निमित्त जो पुल अथवा नावों या डोंगियों का प्रवन्ध राज्य की ओर से किया जाता था उसके अनुसार इन पुलों या नावों आदि के साधनों के उपयोग करने वाले व्यक्तियों को एक प्रकार का कर देना पड़ता था जो सन्तरण करके नाम से प्रसिद्ध था। इस विषय में मानवधर्मशास्त्र में कुछ व्यवस्थाएं दी गयी है जो इस प्रकार है—पुल पर से जाने वाली गाड़ी का कर एक पण, भार युक्त मनुष्य का आधा पण, गाय, बैल आदि पशु तथा स्त्री का चौथायी पण और भार रहित मनुष्य का पण का आठवां

१—विद्यात्पण सहस्त्रं तु दण्ड उत्तम साहसः ॥

श्लोक ११२ अ० ४ शुक्रनीति ॥

दशमाषमितं ताम्रं तत्पणो राजमुद्रितं।

वसटि सार्धं शतक मुल्यं कार्षापणश्च सः ॥

श्लोक ११३ अ० ४ शुक्रनीति ॥

२—तदर्धश्च तदर्धश्च मध्यमः प्रथमः क्रमात्।

प्रथमे साहसे दण्डः प्रथमश्च क्रमात परौ ॥

श्लोक ११४ अ० शुक्रनीति ॥

मध्यमे मध्यमो धार्यश्चोत्तमेतूत्तमो नृपैः ॥

श्लोक ११५ अ० ४ शुक्रनीति ॥

भाग तरण कर निर्धारित किया गया है।[1] व्यापार की सामग्री से युक्त गाड़ी का तरण कर भार के अनुसार देना चाहिए और भार रहित गाड़ी एवं दरिद्र पुरुषों से कुछ कम तरण कर लेना चाहिए। लम्बी उतरायी का तरण कर देश और काल के अनुसार लेना चाहिए। यह नियम नदी के तरण में ही लगना चाहिए समुद्र के तरण में यह नियम नहीं लगना चाहिए।[2] दो महीने से ऊपर की गर्भिणी, सन्यासी, वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी और ब्राह्मण तरण कर से मुक्त थे।[3]

इस प्रकार मानवधर्मशास्त्र में तरण कर के कतिपय नियम दिए गए हैं। यह तरण कर मल्लाहों के द्वारा ग्रहण किया जाता था। इन मल्लाहों की समुचित व्यवस्था राज्य की ओर से की जाती थी और इस व्यवस्था के किए जाने के अधिकार से तरण कर के रूप में प्राप्त इस धन में से कुछ अंश राजकोष के लिए प्राप्त होता था और यह तरण कर, इस प्रकार, राजकोष की आय का एक साधन माना गया है।

मानवधर्मशास्त्र में कुछ ऐसे संकेत किये गये हैं जिनके आधार पर यह विदित होता है कि तरण सम्बन्धी व्यवस्था पर राज्य का नियंत्रण रहता था और इस नियंत्रण के अनुसार नाविक एवं जल में नावों आदि के द्वारा आवागमन करने वाले पुरुषों को कतिपय नियमों का पालन करना पड़ता था। यह नियम राज्य की ओर से निर्माण किए जाते थे। इन नियमों में कुछ नियम इस प्रकार थे — यदि नाविकों के अपराध से नौकारूढ़ लोगों की सामग्री अथवा वस्तुओं का नाश हो जाये ऐसी दशा में नाविकों को मिल कर समस्त हानि का भुगतान करना चाहिए[4]। परन्तु दैवी कारणों वश होने वाली हानि के भुगतान

१—पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषोऽर्धपणं तरे।
पादं पशुश्च योषिच्च पादार्धं रिक्तकः पुमान्॥
श्लोक ४०४ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

२—भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः।
रिक्त भाण्डानि यत्किंचित्पुमांसश्चापरिच्छदाः॥
श्लोक ४०५ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत्।
नदीतीरेषु तद्विद्यात्समुद्रे नास्ति लक्षणम्॥
श्लोक ४०६ अ० ८ मामबधर्मशास्त्र॥

३—गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रव्रजितो मुनिः।
ब्राह्मणा लिङ्गिनश्चैव न दाप्यास्तारिकं तरे॥
श्लोक ४०७ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

४—यान्नावि किंचिद्दाशानां विशीर्येतापराधतः।
तद्दाशैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोंऽशतः॥
श्लोक ४०८ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

करने के लिए नाविकों को विवश नहीं किया जासकता था। इस प्रकार की हानि तो स्वयं नौकारूढ़ व्यक्ति को ही भोगनी पड़ेगी। नाव के द्वारा सन्तरण सम्बन्धी व्यवहार में ऐसा ही निर्णय मान्य होगा ऐसा मानवधर्मशास्त्र के रचयिता का मत है[१]। इस प्रकार की व्यवस्थाओं के होते हुए यह स्पष्ट है कि तरण कर में से कुछ अंश राजकोष में जाता था।

महाभारतकार ने भी तरण कर को राजकोष की आय का साधन माना है। इस कर के सञ्चय हेतु राजा को आप्त पुरुषों को नियुक्त करना चाहिए[२]। इस प्रकार महाभारतकार ने भी इस कर को मान्यता दी है और राजकोष की आय का एक साधन माना हैं।

कौटिल्य ने भी तरण कर की ओर संकेत किया है। यह बतलाते हुए कि व्यापारी के लाभ का अनुमान कैसे किया जाना चाहिए वह यह व्यवस्था देते हैं—क्रय अथवा विक्रय योग्य सामग्री या वस्तुओं के मूल्य का ज्ञान प्राप्त करके शुल्क, वर्तनीदेय, अतिवाहिकदेय, गुल्मदेय, तरदेय, भक्तदेय तथा भाटक देय के व्यय को निकाल कर व्यापारी को लाभ हो उसको देखना चाहिए[३]। इस प्रकार यहाँ पर कयी प्रकार के करों में तरण कर का भी उल्लेख है जिसे कौटिल्य ने तरदेय के नाम से सम्बोधित किया है।

(आ) पशुकर—पशुओं के व्यापारी पर पशुकर लगाया जाना चाहिए। यह कर लाभ का पचासवां भाग होना चाहिए ऐसी व्यवस्था मानवधर्मशास्त्र में दी गयी है[४]। इस प्रकार पशुकर द्वारा प्राप्त धन भी राजकोष में संग्रहीत होता था। महाभारत में भी मनु द्वारा प्रतिपादित पशुकर के लगाए जाने के सिद्धान्त की पुष्टि की गयी है। यह कर पशु के व्यापारी को लाभ का पचासवां भाग

१—एष नौयायिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः।
दाशापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः॥
श्लोक ४०६ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र॥

२—आकरे लवणे शुल्के तरे नागबले तथा।
न्यसेदमात्यान्नृपतिः स्वाप्तान्वा पुरुषान्हितान्॥
श्लोक २६ अ० ६६ शा० पर्व।

३—पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः॥
श्लोक १३० अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

४—बलिंषड्भागं उद्धृत्य बलिं समुपयोजयेत्।
नरक्षति प्रजाः सम्यग्यः स पार्थिव तस्करः॥
श्लोक १०० अ० १३६ शा० पर्व।

महाभारत में भी प्रमाणित माना गया है और यह बतलाया गया है कि इस कर को प्रजाने अपने राजा मनु के कोष के निमित्त निर्धारित किया था[1]।

शुक्रनीति में भी पशुओं के व्यापारी पर कर लगाने की व्यवस्था दी गयी है। भैंस, बकरी, भेड़, और अश्वों की वृद्धि में से अष्टमांश राजा को ग्रहण करना चाहिए इस प्रकार की व्यवस्था शुक्रनीति में दी गयी है[2]।

इस प्रकार पशुओं के लाभ का कुछ अंश कर के रूप में राजकोष के निमित्त सञ्चय किया जाना चाहिए इस सिद्धान्त की पुष्टि की गयी है।

(इ) श्रमजीवी एवं शिल्पियों पर कर—राज्य में जो श्रमजीवी अथवा शिल्पी लोग रहते हों और वह श्रम एवं शिल्प कला के द्वारा अपना जीवन यापन करते हों उनसे इस प्रकार के कर से धन प्राप्त नहीं होता था। इसलिए यह कर कोष वृद्धि का साधन नहीं माना जाएगा। इस कर के विषय में मानवधर्मशास्त्र में यह व्यवस्था दी गयी है—लोहार, बढ़यी आदि और वह शूद्र जो श्रम द्वारा अपनी जीविका कमाते हों उनसे महीने में एक दिन राजा को कुछ काम करा लेना चाहिए[3]।

मानवधर्मशास्त्र में प्रतिपादित इस सिद्धान्त का समर्थन शुक्रनीति में भी किया गया है। शुक्रनीति में इस विषय में जो व्यवस्था दी गयी है उसका उल्लेख इस प्रकार है—कारीगर और शिल्पियों आदि से पन्द्रह दिन में एक दिन बिना कुछ दिए हुए राजा को कुछ काम करा लेना चाहिए। इस नीति से कारुगण की वृद्धि होती है ऐसा शुक्र का मत है[4]।

इस प्रकार श्रमजीवी एवं शिल्पियों पर श्रम सम्बन्धी कर लगाए जाने की व्यवस्था मनु और शुक्र दोनों ने समान ही दी है। अन्तर केवल इतना है कि मनु से शुक्र की इस कर की दर दूनी है। इस दृष्टि से मनु इस विषय में उदार देख पड़ते हैं।

(ई) आकर कर—मनु ने आकर-कर की ओर भी संकेत किया है। वह इस विषय में यह व्यवस्था संकेत रूप में देते हैं कि राजा को प्रजा से सुवर्ण के

१—पशूनामधिपञ्चाशत् ॥ श्लोक २३ अ० ६७ शा० पर्व ॥
× × × दास्यामः कोशवर्धनम् । श्लोक २४ अ० ६७ शा० पर्व ॥

२—अजाविगो महिष्यश्च वृद्धितोऽष्टांशमाहरेत् ॥
श्लोक २३१ अ० ४ शुक्रनीति ॥

३—कारुकाञ्छिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः ।
एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः ॥
श्लोक १३८ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

४—कारुशिल्पिगणात्पक्षे दैनिकं कर्म कारयेत् ॥
श्लोक २३२ अ० ४ शुक्रनीति ॥

लाभ का पचासवां भाग उसके राजकोष के लिए कर रूपमें प्राप्त होना चाहिए मानवधर्मशास्त्र में दी गयी यह व्यवस्था इस सिद्धान्त की स्थापना करती हैं कि मनु ने आकर कर को भी मान्यता दी है।

महाभारत में भी आकर कर को मान्यता दी गयी है। महाभारत के अनुसार सुवर्ण के लाभ का पचासवां भाग राजा मनु के राजकोष के लिए देने का वचन प्रजा ने स्वयं दिया था [२]। इसी कर के विषय में महाभारत में दूसरे स्थल पर इस प्रकार व्यवस्था दी गयी है----राजा को खानों और लवण उत्पत्ति के स्थानों पर आप्त पुरुषों की नियुक्ति करनी चाहिए [३]। इस प्रकार महाभारत में भी आकर कर को मान्यता दी गयी है।

शुक्रनीति में आकर के स्वामी से लाभ का तृतीयांश, पञ्चमांश सप्तांश अथवा दशांश जैसा उचित समझा जाए प्राप्त किया जाना चाहिए ऐसी व्यवस्था देकर आकर कर को मान्यता दी गयी है [४]। इस प्रकार शुक्र भी मनु द्वारा स्थापित किए गए आकर कर को मान्यता देते हैं।

इस प्रकार मानवधर्मशास्त्र में राजकोष की वृद्धि के निमित्त विविध प्रकार के करों का आश्रय लिया गया है। इन करों के द्वारा जो धन प्राप्त होता था उस से राजा को प्रजारक्षण, प्रजापालन एवं प्रजा के आत्यान्तिक कल्याण करने का प्रयत्न करना चाहिए ऐसा मनु का आदेश है।

१--पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः ॥
श्लोक १३० अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

२--पञ्चाशद्धिरण्यस्य तथैव च ॥
श्लोक २३ अ० ६७ शा० पर्व ॥

३--आकरे लवणे शुल्के तरे नागबले तथा ।
न्यसेदमात्यान्नृपतिः स्वाप्तान्वा पुरुषान्हितान् ॥
श्लोक २६ अ० ६६ शा० पर्व ॥

४--त्रिधा वा पञ्चधा कृत्वा सप्तधा दशधापिवा ॥
श्लोक २३० अ० ४ शुक्रनीति ॥



अध्याय छः

पुर और राष्ट्र

राज्य के दो मुख्य विभाजन—प्राचीन भारत के राजशास्त्र के प्रमुख आचार्यो ने राज्य के दो प्रमुख विभाजन किए हैं। उन के मतानुसार राज्य के यह दो मुख्य भाग पुर या दुर्ग और राष्ट्र हैं। इसी लिए पुर और राष्ट्र को उन्हों ने सप्तांग राज्य के दो अलग अलग अंग भी माने हैं। पुर से उनका तात्पर्य उस नगर अथवा दुर्ग से था जिसमें राज्य की राजधानी होती थी। पुर को वहिष्कृत करने के उपरान्त राज्य का जो भाग अवशेष रहजाता था उस भाग को राष्ट्र कहा गया है। शासन की दृष्टि से राज्य के जो यह दो विभाजन प्राचीन भारत के राजशास्त्र प्रणेताओं ने किए हैं उससे मनु भी सहमत हैं। दण्ड के अभाव में विभिन्न लोकों की दैनीय दशा हो जाती है इस का बोध कराते हुए मनु ने संक्षेप में राज्य के जो दो विभाजन किए हैं उसमें उन्होंने दुर्ग और राष्ट्र बतलाए हैं। यद्यपि उन्होंने इस प्रसंग में राज्य शब्द का प्रयोग नही किया है परन्तु जो इस प्रसंग में वर्णन दिया गया है उसके आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंनें राज्य के ही यह दो भाग किए हैं और जो दुर्ग और राष्ट्र हैं।[१] मानवधर्म-शास्त्र के अन्तर्गत जिस राज्य का उन्होंने वर्णन किया है उस का विभाजन भी इसी सिद्धान्त के आधार पर किया गया है। उन्होंने राज्य को पुर और राष्ट्र इन दो मुख्य भागों में विभाजित कर इस विषय का कुछ वर्णन भी दिया है कि राज्य के इन दो मुख्य भागों में किस प्रकार की शासन व्यवस्था की स्थापना की जानी चाहिए।

पुर—किस प्रकार के भूभाग में राजा को अपनी राजधानी के लिए नगर बसाना चाहिए इस विषय में मनु का यह मत है—जिस भूभाग में अनेक प्रकार के वृक्ष, घास, जल, धान्य आदि की उपज की पूरी सुविधा हो, वहाँ भद्र आर्य-

---

१—ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम्।
अन्तरिक्षगतांश्चैव मुनीन्देवांश्च पीडयेत्॥
श्लोक २६ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

जन वास करते हों, रोगादि उपद्रवों से रहित, देखने में रमणीय, वीर पुरुष-युक्त और हर प्रकार से सम्पन्न एवं स्वावलम्बन पर निर्भर हो।[१] इस भूभाग मे धनुदुर्ग, महिदुर्ग, जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग, सेनादुर्ग, और गिरिदुर्ग इन में से किसी एक अथवा छःहो दुर्गो का सुविधा पूर्वक निर्माण किया जा सकता हो, मनु आदेश देते हैं ऐसे भूभाग में राजा को इन छः प्रकार के दुर्गो में से किसी एक प्रकार के दुर्ग का आश्रय लेकर पुर बसाना चाहिए।[२]

किस प्रकार के भूभाग में राजधानी का निर्माण किया जाना चाहिए इस विषय में शुक्र ने जो व्यवस्था दी है वह मनु द्वारा दी गयी तद् विषयक व्यवस्था के समान है और वह इस प्रकार है—नाना प्रकार के वृक्ष और लताओं से युक्त, पशु पक्षियों से व्याप्त, अन्न और जल से सम्पन्न, वृक्ष और काष्ठ से परिपूर्ण, जिन नदियों में नौकाओं द्वारा गमनागमन सुविधा पूर्वक हो सके ऐसी नदियों के समीप, पर्वत से अधिक दूर नहीं ऐसे सुन्दर समभूतल वाले मनोहर प्रदेश में राजधानी का निर्माण करना चाहिए।[३] राजधानी का आकार अर्ध चन्द्र के तुल्य वक्र तथा गोल अथवा सुन्दर चौकोर होना चाहिए। राजधानी के चारो ओर परकोटा तथा खाई का निर्माण अत्यन्त आवश्यक है। ग्राम आदि वस्तियाँ इसके समीप होनी चाहिए।[४]

राजधानी में दुर्ग की आवश्यकता बतलाते हुए मनु अपना मत इस प्रकार प्रकट करते हैं—जैसे धनुषाकार भूमि मे मृग, मही में मूषक आदि पार्थिव जन्तु, जल में जलजन्तु, वृक्षों में बानर, मनुष्यों के बीच में मनुष्य, और पर्वतों में देव

१—जाङ्गलं सस्यसम्पन्नमार्यप्रायमनाविलम्।
रम्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत्॥
श्लोक ६९ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

२—धनुर्दुर्गं महीदुर्गमब्ददुर्गं वार्क्षमेव वा।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम्॥
श्लोक ७० अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

३—नाना वृक्षलताकीर्णे पशुपक्षिगणावृते।
सुबहूदक धान्ये च तृण काष्ठ सुखे सदा॥
श्लोक २१२ अ० १ शुक्रनीति॥

आसिन्धु नौगमा कूले नाति दूरे महीधरे।
सुरम्य समभूदेशे राजधानीं प्रकल्पयेत्॥
श्लोक २१३ अ० १ शुक्रनीति॥

४—अर्धचन्द्रां वर्तुलां वा चतुरस्रां सुशोभनाम्।
सप्राकारां सपरिखां ग्रामादीनां निवेशिनीम्॥
श्लोक २१४ अ० १ शुक्रनीति॥

गण अपने शत्रुओं से सुरक्षित रहते है इसी प्रकार राजा भी इन छ: प्रकार के दुर्गों में से (देश-काल के अनुसार) किसी एक दुर्ग का आश्रय ग्रहणकर सुरक्षित रहता है ।[१] मनु के मतानुसार इन छ: प्रकार के दुर्गों में गिरिदुर्ग सर्व श्रेष्ठ होता है । राजा को हर प्रकार से गिरिदुर्ग का ही आश्रय लेना उचित होगा क्योंकि गिरि दुर्ग सर्वगुण सम्पन्न होता है ।[२] दुर्ग की महिमा के गुणगान करते हुए मनु यह कहते हैं कि जैसे मृग, मूषक, जलजन्तु, बानर, मनुष्य और देवगण अपने दुर्गों में रहकर अपनी रक्षा करने में समर्थ होते है और उन के शत्रु उनकी हिंसा सरलता से नहीं कर पाते इसी प्रकार दुर्ग का आश्रय ग्रहण करने वाले राजा की हिंसा करने मे उस के शत्रु समर्थ नहीं होते ।[३] दुर्ग में स्थित एक धनुर्धर सौ धनुर्धरों के विरुद्ध युद्ध कर सकता है और उसी प्रकार एक सौ धनुर्धारी दस सहस्त्र धनुर्धारियों से युद्धकरन में समर्थ हो सकते है इसी लिए राजा के निमित्त दुर्ग की व्यवस्था की जाती है ।[४]

राजा को ऐसे दुर्ग युक्त पुर में किस प्रकार वास करना चाहिए इस विषय में मनु इस प्रकार की व्यवस्था संक्षेप में देते हुए कहते हैं—पुर में जिस दुर्ग का आश्रय लिया गया है उस दुर्ग को आयुध, धन-धान्य, वाहन, ब्राह्मणों, शिल्पियों यंत्रों, सुन्दर जल और इंधनादि से सुसम्पन्न रखना चाहिए ।[५] उस दुर्ग के मध्य भाग में भली प्रकार से पर्याप्त (अन्त: पुर, देवागार, आयुधागार आदि आवश्यकीय स्थानों से युक्त) राजा का वास स्थान (राजगृह) होना चाहिए । यह गृह सब ऋतुओं के फल पुष्प आदि वाले वृक्षों एवं स्वच्छ जल युक्त होना चाहिए ।

१—त्रीण्याद्यान्याश्रितास्त्वेषां मृगगर्ताश्रयाऽप्सरा: ।
त्रीण्युत्तराणि क्रमश: प्लवङ्गमनरामरा: ।।
श्लोक ७२ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

२—सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत् ।
एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते ।।
श्लोक ७१ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

३—यथा दुर्गाश्रितानेतान्नोपहिंसन्ति शत्रव: ।
तथाऽरयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम् ।।
श्लोक ७३ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

४—एक: शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धर: ।
शतं दशसहस्त्राणि तस्माद्दुर्गं विधीयते ।।
श्लोक ७४ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

५—तत्स्यादायुधसम्पन्नं धनधान्येन वाहनै: ।
ब्राह्मणै: शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ।।
श्लोक ७५ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

यह गृह चारो ओर से दीवारों से सुरक्षित होना चाहिए ।[१] ऐसे गृह में समान वर्ण वाली, शुभ सूचक लक्षण युक्त, बड़े कुलमें उत्पन्न हुई सुन्दर रूप और गुणवाली भार्या के साथ राजा को निवास करना चाहिए ।[२]

इस प्रकार उपर्युक्त प्रकार के पुर के निर्माण किए जाने का आदेश मानवधर्मशास्त्र मे किया गया है । इसी पुर में स्थित होकर राजा अपने समस्त राज्य पर शासन करता था । इस पुर मे शासन सम्बन्धी विभिन्न कार्यालय एवं तत्सम्बन्धी अन्य आवश्यक सस्थाएं निर्माण की जाती थी, जिन की सहायता से राज्य में समस्त शासन व्यवस्था विधिवत कार्यान्वित की जाती थी ।

राष्ट्र का संघठन—राष्ट्र में शासन व्यवस्था को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए राष्ट्र की छोटी और बड़ी विभिन्न वस्तियों को अनेक वर्गो में संघठित किए जाने का आदेश मानवधर्मशास्त्र में किया गया है । राष्ट्र को इस प्रकार संघठित किए जाने के निमित्त मानवधर्मशास्त्र में दशमलव सिद्धान्त के अपनाए जाने का आदेश दिया गया हैं । मानवधर्मशास्त्र में एक ग्राम, दस ग्राम, बीस ग्राम, सौ ग्राम, और सहस्त्र ग्रामों के पृथक-पृथक संघठनों के किएजाने के हेतु व्यवस्था दी गयी है ।[३] मनु ने राष्ट्र में शासन की सब से छोटी इकाई ग्राम माना है। दस ग्रामों के क्षेत्रों को संघठित करदस ग्रामों का एक क्षेत्र निर्धारित कर उस क्षेत्र के शासन हेतु राजकर्मचारी नियुक्त किये जाने चाहिए । दस ग्रामों के संघठन के उपरान्त बीस ग्रामों के अधीन राष्ट्र का क्षेत्र एक सूत्र में गूंथ कर उसके शासन हेतु अधिकारी की नियुक्ति की व्यवस्था दी गयी है । इसी प्रकार सौ ग्रामों के संघठित एवं सहस्र ग्रामों के संघठित क्षेत्रों पर अलग-अलग अधिकारियों की नियुक्ति होनी चाहिए । इस प्रकार मानवधर्मशास्त्र में राष्ट्र के एक ग्राम, दस ग्राम, सौ ग्राम और हजार ग्रामों के अलग-अलग संघठन किए जाने का आदेश दिया गया है ।

मानवधर्मशास्त्र में प्रतिपादित राष्ट्र विभाजन के इस सिद्धान्त का समर्थन महाभारत के शान्ति पर्व में भी किया गया है । शान्ति पर्व में भी यह व्यवस्था दी गयी है कि शासन की सुविधा हेतु राष्ट्र विभाजन दशमलव सिद्धान्त

---

१ –तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद् गृहमात्मनः ।
गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम् ॥
श्लोक ७६ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—तदध्यास्योद्वहेद्भार्यां सुवर्णां लक्षणान्विताम् ।
कुले महति संभूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम् ॥
श्लोक ७७ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

३—ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा ।
विंशतीशं शतेशं च सहस्त्रपतिमेव च ॥
श्लोक ११५ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

के आधार पर होना चाहिए। राष्ट्र में शासन की इकाई ग्राम माना गया है। ग्राम के उपरान्त दस ग्राम फिर बीस ग्राम, सौ ग्राम और हजार ग्रामों के पृथक-पृथक सघठन होने चाहिए ऐसी व्यवस्था महाभारत में भी दी गयी है।[१] इस प्रकार राष्ट्र विभाजन के विषय में मानवधर्मशास्त्र और महाभारत दोनों ग्रन्थों में एक ही सिद्धान्त के अपनाए जाने का समर्थन किया गया है।

ग्राम—प्रचीन भारत में राष्ट्र की, शासस की दृष्टि से, सबसे छोटी संस्था ग्राम माना गया है। ग्राम में विधिवत शासन प्रवन्ध होता रहे इस उद्देश्य से प्रत्येक ग्राम में राजा की ओर से एक अधिकारी नियुक्त किया जाना चाहिए और ग्राम का समस्त शासन प्रवन्ध उसी की देख-रेख में होना चाहिए ऐसा मनु का मत है। मानवधर्मशास्त्र में ग्राम के इस अधिकारी को ग्रामिक नाम से सम्बोधित किया गया है। मानवधर्मशास्त्र में ग्रामिक नाम के ग्राम के अधिकारी के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए यह बतलाया गया है कि उसको अपने अधीन ग्राम में उत्पन्न होनेवाली भोग की समस्त सामग्री में से राजाश का सञ्चय कर उस को दस ग्राम के अधिकारी के पास भेजना चाहिए।[२] ग्राम में शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था करना भी इसी अधिकारी का कर्त्तव्य बतलाया गया है। यदि ग्राम में किसी प्रकार अशान्ति या अनव्यवस्था अथवा विघ्न-वाधा के उत्पन्न होने की आशंका होती तो ऐसी दशा में इस विषय की समस्त सूचना दस ग्राम के अधिकारी तक पहुँचाना उसी का कर्त्तव्य बतलाया गया है।[३]

ग्राम के इस अधिकारी की नियुक्ति एवं उसके कर्त्तव्यों तथा अधिकारों के विषय में मनु ने जो वर्णन मानवधर्मशास्त्र नें दिया है उसका समर्थन महाभारत के शान्ति पर्व में भी किया गया है। शान्ति पर्व में इस विषय में इस प्रकार व्यवस्था दी गयी है—राजा को ग्राम का एक अधिपति नियत करना

१—राष्ट्रगुप्तिं च ते सम्यग्राष्ट्रस्यैव तु संग्रहम्।
हन्त सर्वं प्रवक्ष्यामि तत्त्वमेकमनाः शृणु॥
श्लोक २ अ० ८७ शा० पर्व॥

ग्रामस्याधिपतिः कार्यो दशग्राम्यास्तथापरः।
द्विगुणायाः शतस्यैवं सहस्रस्य च कारयेत्॥
श्लोक ३ अ० ८७ शा० पर्व॥

२—यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः।
अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात्॥
श्लोक ११८ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

३—ग्रामदोषान्समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैः स्वयम्।
शंसेद् ग्रामदशेशाय × × ॥
श्लोक ११६ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

चाहिए। [1] ग्राम के इस अधिपति को शान्ति पर्व में भी ग्रामिक नाम से सम्बोधित किया गया है। [2] ग्रामिक नाम के ग्राम के अधिकारी के कर्त्तव्यो एवं अधिकारो का वोध कराते हुए शान्ति पर्व में यह आदेश दिया गया है—ग्राम की जनता से अन्न, पान, और इन्धनादि जो सामग्री राजा को राजाश के रूप में प्राप्त होनी हो उस समस्त सामग्री को ग्रामिक नाम के ग्राम के अधिपति को सञ्चय करनी चाहिए। [3] यदि ग्राम में किसी प्रकार का दोष उत्पन्न हो गया हो अथवा उसके उत्पन्न होने की सम्भावना हो तो ग्रामिक को इस विषय की समस्त सूचना दस ग्राम के अधिपति को देनी चाहिए। [4] इस प्रकार ग्राम में राजस्व को प्रजा से सञ्चय करना और ग्राम में शान्ति एवं सुरक्षा आदि की व्यवस्था करना तथा अपने से ऊपर के अधिपति (दशग्राम पति) को अपने अधीन ग्राम के दोषों से सूचित रखना ग्राकिम का कर्त्तव्य बतलाया गया है।

इस दृष्टि से मानवधर्मशास्त्र प्रणेता और महाभारतकार दोनों ने ग्राम के शासन प्रवन्ध एवं सुव्यवस्था का भार ग्रामिक नाम के अधिकारी को सौपा है। कौटलीय अर्थशास्त्र में भी शासन का सबसे छोटा क्षेत्र ग्राम माना गया है। कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र में ग्रामिक नाम के अधिकारी का उल्लेख किया है। इस अधिकारी का पद ग्रामवासियों की दृष्टि में बड़ा सम्मानित और प्रतिष्ठापूर्ण समझा गया है। ग्राम की जनता अपने इस अधिकारी का बड़ा सम्मान एवं सत्कार करती थी। ग्रामिक के पद के महत्त्व को बतलाते हुए कौटिल्य ने यह स्पष्ट व्यवस्था दी है कि यदि ग्राम-कार्य के निमित्त ग्रामिक प्रस्थान करता है तो उस ग्राम की जनता को उसका अनुसरण करना चाहिए। इस नियम का भंग करने वाला व्यक्ति दण्ड का भागी समझा गया है। [5]

१—ग्रामस्याधिपतिः कार्यो ॥

श्लोक ३ अ० ८७ शा० पर्व ॥

२—ग्रामे यान् ग्रामदोषांश्च ग्रामिकः प्रतिभावयेत् ॥

श्लोक ४ अ० ८७ शा० पर्व ॥

३—यानि ग्राम्याणि भोज्यानि ग्रामिकस्तान्युपाश्नियात् ॥

श्लोक ६ अ० ८७ शा० पर्व ॥

४—ग्रामे यान् ग्रामदोषांश्च ग्रामिकः प्रतिभावयेत् ।
तान् ब्रूयाद्दशपायाऽसौ स तु विंशतिपाय वै ॥

श्लोक ४ अ० ८७ शा० पर्व ॥

५—ग्रामार्थेन ग्रामिकं व्रजन्तमुपवासाः पर्यायेणानुगच्छेयुरननुगच्छन्तः पणार्धपणिकं योजनं दद्युः ॥

वार्ता २६ अ० १० अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

ग्रामिक नाम के ग्राम के अधिकारी का उल्लेख गुप्तकालीन शिला लेखों में भी पाया जाता है। गुप्त वंशीय राजा बुध गुप्त के समय का जो ताम्र पत्र अभिलेख दामोदरपुर में पाया गया है उस में भी ग्रामिक नाम के ग्राम के अधिकारी का उल्लेख इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस से यह विदित होता है कि गुप्त राजा बुध गुप्त के समय मे भी ग्राम में ग्रामिक नाम का एक अधिकारी हुआ करता था। [1]

शुक्र ने भी ग्राम के अधिकारियो का उल्लेख किया है। इन के मतानुसार प्रत्येक ग्राम में छः प्रमुख राजकर्मचारी होने चाहिए और जिनकी नियुक्ति राजा के द्वारा होनी चाहिए। इन छः कर्मचारियो में एक कर्मचारी ग्रामिक भी माना गया है। यहाँ पर शुक्र ग्रामिक के स्थान पर ग्रामप शब्द का प्रयोग करते है। ग्रामप राजकर्मचारी का कर्त्तव्य शुक्र इस प्रकार निर्धारित करते है— लुटरों, चोर और राज्य के कर्मचारियो के अत्याचारों से जो माता-पिता की भाँति प्रजा की रक्षा करने में समर्थ हो ऐसा व्यक्ति ग्रामप होना चाहिए। [2]

मनु ने ग्राम के उपरान्त दस ग्रामों को संघठित किया जाना चाहिए ऐसा आदेश दिया है। इस प्रकार से सघठित किए गए दस ग्रामों में सामूहिक शान्ति एव सुरक्षा आदि की सुव्यवस्था करने के कार्य को राज्य के एक राजकर्मचारी को सौपे जाने का आदेश मानवधर्मशास्त्र में दिया गया है। इस राजकर्मचारी को दशग्रामपति नाम से सम्बोधित किया गया है और यह व्यवस्था दी गयी है कि इस दशग्रामपति नाम के अधिकारी के अधीन जो दस ग्राम सघठित किए जाएँ उन ग्रामो में से प्रत्येक ग्राम का जो ग्रामिक है वह इसी अधिकारी के अधीन रहेगा, और ग्रामिक को अपने अधीन ग्राम मे उत्पन्न हुई अनव्यवस्था अथवा अशान्ति या उसके उत्पन्न होने की कोई सम्भावना हो तुरन्त दशग्रामपति नाम के अपने से उच्च अधिकारी को उससे अवगत करना चाहिए। इस प्रकार दशग्रामपति के अधीन जो दस ग्राम संघठित किए जाएं उन के पृथक-पृथक ग्रामिक जिन की संख्या दस होगी इस विषय में दशग्रामपति के अधीन रहेंगे। [3] दश—

१—बुधगुप्त के समय का दामोदरपुर ताम्रपत्र-अभिलेख संख्या दो ॥

२—आधर्ष केभ्यश्चोरेभ्यो ह्यधिकारि गणात्तथा।

प्रजा संरक्षणे दक्षोग्रामपो मातृपितृवत् ॥

श्लोक १७०-१७१ अ० २ शुक्रनीति ॥

३—ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा ॥

श्लोक ११५ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

ग्रामदोषान्समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैः स्वयम्।

शंसेद् ग्रामदशेशायXX ॥

श्लोक ११६ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

ग्रामपति को कितना वेतन मिलना चाहिए इस विषय में मनु यह व्यवस्था देते हैं—दशग्रामपति को एक कुल का भोग करना चाहिए।[१] दस ग्रामों के संघठन के उपरान्त बीस ग्रामों के संघठन अलग-अलग बनाए जाने चाहिए। फिर सौ-सौ ग्रामों को और फिर सहस्त्र ग्रामों को इसी प्रकार संघठित किया जाना चाहिए। इन के भी अधिकारी गण क्रमशः विंशतीश अथवा वशी, शतेश या शताध्यक्ष, सहस्त्रपति अथवा सहस्त्राधिपति होने चाहिए।[२] इन अधिकारियों का कर्तव्य एवं व्यवहार भी अपने-अपने ऊपर के अधिकारी के प्रति उसी प्रकार होना चाहिए जैसा कि ग्रामिक का कर्तव्य एवं व्यवहार दशग्रामपति वा दशी के प्रति एवं दशी का विंशतेश के प्रति बतलाया गया है। इन अधिकारियों के वेतन के विषय मे भी मानवधर्मशास्त्र में यह आदेश दिया गया है कि विंशी को पाँच कुल के, शतेश को एक ग्राम के और सहस्त्रपति को पुर के भोग का अधिकार मिलना चाहिए।[३] इस प्रकार राष्ट्र के समस्त ग्रामों एवं उन के अधिकारी गण एक शृंखला में बंधे हुए होने चाहिए और अन्त में यह समस्त अधिकारी राजा के एक उदार हृदय सचिव के अधीन होने चाहिए जिस को राष्ट्र के इन अधिकारियों के समस्त कार्यों की आलस्य रहित होकर निरन्तर अलग-अलग देख-भाल करते रहना चाहिए।[४] राजा का यह सचिव मंत्रिपरिषद् का सदस्य होता होगा।

महाभारत में भी मनु के द्वारा स्थापित की गयी उपर्युक्त ग्रामसंघठन की योजना का समर्थन उसी रूप में किया गया है। महाभारत के शान्ति पर्व में इस योजना के विषय में ऐसा आदेश किया गया है—राजा को अपने राष्ट्र के प्रत्येक ग्राम में ग्रामिक नाम के एक ग्राम के अधिकारी की नियुक्ति करनी चाहिए, उस के उपरान्त दस ग्रामो पर एक दशप नाम के अधिकारी की नियुक्ति करनी

१—दशी कुलं तु भुञ्जीत ॥

श्लोक ११९ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—विंशतीशं शतेशं च सहस्त्रपतिमेव च ॥

श्लोक ११५ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

दशी कुलं तु भुञ्जीत विंशी पञ्चकुलानि च।
ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः सहस्त्राधिपतिः पुरम् ॥

श्लोक ११९ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

३—दशी कुलं तु भुञ्जीत विंशी पञ्चकुलानि च।
ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः सहस्त्राधिपतिम् पुरम ॥

श्लोक ११९ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

४—तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि।
राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः ॥

श्लोक १२० अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

चाहिए। इसी प्रकार बीस ग्रामों पर एक विंशत्यधिपति नाम के अधिकारी की फिर सौ ग्रामों के लिए एक शतपाल नाम के अधिकारी की और फिर सहस्त्राधिपति नाम के अधिकारी की नियुक्ति की जानी चाहिए।[१] अन्त में इन सब अधिकारियों के कार्यों की देख-भाल हेतु राजा का एक धर्मज्ञ सचिव होना चाहिए जिस के अधीन इन सब अधिकारियों को रहना चाहिए, और जिसको आलस्य रहित हो कर इन समस्त अधिकारियों के कार्यों का अवलोकन करते रहना चाहिए।[२] इन समस्त छोटे बड़े अधिकारियों में किस प्रकार का सम्बन्ध होना चाहिए इस विषय में इस प्रकार व्यवस्था महाभारतकार ने दी है—ग्रामिक नाम के ग्राम के अधिपति को अपने अधीन ग्राम में उत्पन्न अथवा होने वाली किसी प्रकार की अनव्यवस्था अथवा अशान्ति आदि की सूचना अपने से ऊपर के अधिकारी दशप को तुरन्त देनी चाहिए और इसी प्रकार दशप को अपने अधीन दस ग्रामों में कहीं भी होने वाली अनव्यवस्था या अशान्ति सम्बन्धी क्रिया की सूचना विंशतिप को देनी चाहिए। इसी प्रकार विंशतिप को शतपाल के प्रति, शतपाल का सहस्त्राधिपति के प्रति और सहस्त्राधिपति का राजा के मंत्रिपरिषद् के सचिव के प्रति कर्तव्य होना चाहिए[३]। इन अधिकारियों के वेतन के विषय में भी इसी प्रसंग में यह व्यवस्था दी गयी है—ग्राम में जो भोग की सामग्री उत्पन्न हो उसका भोग ग्राम के अधिकारी ग्रामिक को मिलना चाहिए और फिर दशप के द्वारा दिए गए राजस्व में से विंशतिप का भरण पोषण होना चाहिए। शताध्यक्ष को एक ग्राम के भोग का अधिकार होना चाहिए। यह ग्राम बड़ा, समृद्धि और जन समूह से युक्त होना चाहिए। परन्तु इस प्रकार के ग्राम की समस्त भोग युक्त सामग्री केवल उसी के भरणपोषण के लिए ही उपयुक्त न होकर वरन केवल इतना अंश जो उस ग्राम की प्रजा के भरण पोषण से अवशेष रह गया है और जो राजस्व के रूप में एकत्र की गयी है उस के भोग में

१—ग्रामस्याधिपतिः कार्यो दशग्राम्यास्तथापरः।
द्विगुणायाः शतस्यैवं सहस्त्रस्य च कारयेत्॥
श्लोक ३ अ० ८७ शा० पर्व॥

२—धर्मज्ञः सचिवः कश्चित्तत्पश्येदतन्द्रितः॥
श्लोक १० अ० ८७ शा० पर्व॥

३—ग्रामे यान् ग्रामदोषांश्च ग्रामिकः प्रतिभावयेत्।
तान् ब्रूयाद्दशपायाऽसौ स तु विंशतिपाय वै॥
श्लोक ४ अ० ८७ शा० पर्व॥

सोऽपि विंशत्यधिपतिवृत्तं जानपदे जने।
ग्रामाणां शतपालाय सर्वमेवनिवेदयेत्॥
श्लोक ५ अ० ८७ शा० पर्व॥

आनी चाहिए। सहस्त्राधिपति के लिए शाखानगर के भोग का अधिकार दिया गया है[1]। इस प्रकार शान्ति पर्व में भी राष्ट्र के सघठन एवं शासन प्रणाली का जो वर्णन दिया गया है वह मनु द्वारा वर्णित तत्सम्बन्धी योजना की पूर्ण रूप से पुष्टि करती है।

राज्य मे स्थित ग्रामों को शासन प्रबन्ध की दृष्टि से एक सूत्र में किस प्रकार गूंथा जाना चाहिए इस विषय में शुक्रनीति में भी कुछ वर्णन दिया गया है। शुक्रनीति में कुछ ऐसे कर्मचारियों के नाम दिए गए हैं जो एक ग्राम, दस ग्राम, सौ ग्राम और सहस्त्र ग्रामों के अधिपतियो के नाम से सम्बोधित किए गए हैं। इनके विषय में जो वर्णन शुक्रनीति में उपलब्ध है वह इस प्रकार है—दस ग्राम के अभिपति को नायक कहना चाहिए।[2] जो व्यक्ति सौ ग्रामों का अधिपति होगा वह सामन्त कहलाएगा।[3] इसी प्रकार जो व्यक्ति सहस्त्र ग्रामों से कर गहण करने के लिये अधिपति नियत किया गया है वह आशापाल कहलाएगा।[4] परन्तु इतने वर्णन मात्र से यह स्पष्ट नही होने पाता कि इन विभिन्न अधिपतियों में पारस्परिक क्या सम्बन्ध था। ऐंसा निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि यह अधिकारी कतिपय विषयों में एक दूसरे के आश्रित अवश्य रहते होंगे

राष्ट्र की रक्षा का क्या प्रबन्ध होना चाहिए इस विषय में मानवधर्मशास्त्र में ऐसा आदेश दिया गया है—राजा को राष्ट्र की रक्षा हेतु रक्षकों (पुलिस) की चौकियों का प्रवन्ध करना चाहिए। यह चौकियाँ दो-दो, तीन-तीन वा पाँच-

---

१—यानि ग्राम्याणि भोज्यानि ग्रामिकस्तान्युपाश्नियात्।
दशपस्तेन भर्तव्यस्तेनापि द्विगुणाधिपः॥
श्लोक ६ अ० ८७ शा० पर्व॥
ग्रामं ग्रामशताध्यक्षो भोक्तुमर्हति सत्कृतः।
महान्तं भरतश्रेष्ठ सुस्फीतं जनसंकुलम्॥
श्लोक ७ अ० ८७ शा० पर्व॥
तत्र ह्यनेकपायत्तं राज्ञो भवति भारत।
शाखानगरमर्हस्तु सहस्त्रपतिरुत्तमः॥
श्लोक ८ अ० ८७ शा० पर्व॥

२—अधिकृतो दशग्रामे नायकः स च कीर्तितः॥
श्लोक १९१ अ० १ शुक्रनीति॥

३—शतग्रामाधिपोयस्तु सोपि सामन्त संज्ञकः॥
श्लोक १९० अ० १ शुक्रनीति॥

४—आशापालोयुतग्राम भाग भाक्॥
श्लोक १९१ अ० १ शुक्रनीति॥

पाँच ग्रामों के मध्य स्थापित की जानी चाहिए। सौ ग्रामों के मध्य में एक बड़ा रक्षा का स्थान होना चाहिए[1] जिस से सौ ग्रामों की रक्षा की जा सके। इस प्रकार मनु ने राष्ट्र के बिखरे हुए ग्रामों की रक्षा की व्यवस्था करने का आदेश दिया है।

नगर—राष्ट्र में ग्रामों के अतिरिक्त नगर भी होते थे। परन्तु ग्रामों की अपेक्षा नगरों की संख्या कही अल्प होती थी। मनु ने नगरों के प्रबन्ध का विशेष वर्णन नही दिया है इस लिए इस विषय पर अधिक प्रकाश नहीं डाला जा सकता। मनु प्रत्येक नगर में सर्वार्थचिन्तक नाम के एक अधिकारी के नियुक्त किये जाने की व्यवस्था देते हैं। जैसा कि शब्द सर्वार्थचिन्तक से स्पष्ट होता है इस राज-कर्मचारी का कर्तव्य अपने अधीन प्रजा समूह के समस्त अर्थों का चिन्तन करना और उनकी सिद्धि के निमित्त सतत प्रयत्न करना होगा।[2] सर्वार्थचिन्तक नाम के राजकर्मचारी की स्थिति एवं उसके कर्त्तव्यों का संकेत मात्र से बोध कराते हुए मनु ने इस प्रकार आदेश दिया है—सर्वार्थचिन्तक नाम के राजकर्मचारी को अन्य राजकर्मचारियों के बीच परिक्रमा (दौरा) करते हुए उनके मध्य में इस प्रकार (आतंकपूर्वक) रहना चाहिए जैसे नक्षत्रों के मध्य एक ग्रह (शुक्रादि) घोररूप धारण कर उन पर शासन करता है।[3] इस सर्वार्थचितक को अपने अधीन समस्त प्रजा के सुख-दुख आदि का निरन्तर ज्ञान रखते रहना चाहिए। सर्वार्थचिन्तक के अधीन गुप्तचर होने चाहिए जिनके द्वारा वह जनता के विषय में सब कुछ जानने में समर्थ हो सके और जनता की दुष्ट राजकर्म-चारियों से रक्षा कर सके क्योंकि राजा द्वारा नियत किए गए राजकर्मचारियो में प्रजा के द्रव्य का हरण करने वाले और वञ्चक भी होते हैं।[4] जो पापबुद्धि,

---

१—द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम्।
तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम्॥
श्लोक ११४ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

२ नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम्।
उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम्॥
श्लोक १२१ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

३—स ताननुपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम्।
तेषां वृत्तं परिणयेत्सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः॥
श्लोक १२२ अ० मानवधर्मशास्त्र॥

४ राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः॥
श्लोक १२३ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

कार्यार्थियो से, द्रव्य ही हरण करते हैं ऐसे राजकर्मचारियो का (सर्वार्थचिन्तकों द्वारा दिए गए विवरण के अधार पर) सर्वस्व हरण कर राजा को उन्हें अपने राज्य से वहिष्कृत कर देना चाहिए ।[१]

मानवधर्मशास्त्र में सर्वार्थचिन्तक नाम के इस राजकर्मचारी के वेतन या भृति के रूप में राज्य की ओर से मासिक अथवा वार्षिक वेतन अथवा भृति के विषय मे किसी प्रकार का संकेत नही किया गया है । अतः यह नहीं कहा जा सकता कि इस राजकर्मचारी को कितना धन अथवा अन्न आदि के भोग का अधिकार प्राप्त था ।

इस प्रकार सर्वार्थचिन्तक नाम के राजकर्मचारियों का मुख्य कर्त्तव्य अपने क्षेत्र के अन्य राजकर्मचारियों के कार्य एवं आचरण का निरीक्षण करना, दुष्ट एवं धन लोलुप राजकर्मचारियों से प्रजा की रक्षा करना एवं प्रजा के क्लेशों को दूर कर उनके प्रत्येक प्रकार के कल्याण का चिन्तन करना था ।

राष्ट्र के प्रत्येक नगर में सर्वार्थचिन्तक नाम के राजकर्मचारी की नियुक्ति उसके कर्त्तव्यों एवं अधिकारों के विषय में जो वर्णन मानवधर्मशास्त्र मे उपलब्ध है उसकी संपुष्टि लगभग उसी रूप में महाभारत के शान्ति पर्व में भी की गयी है । महाभारत के शान्ति पर्व में सर्वार्थचिन्क नाम के राजकर्मचारी की नियुक्ति एवं उसके कर्त्तव्यों का संक्षेप रूप में जो वर्णन दिया गया है वह इस प्रकार है– राष्ट्र के प्रत्येक नगर में सर्वार्थचिन्तक नाम का एक राजकर्मचारी होना चाहिए ।[२] इस अधिकारी को अन्य कर्मचारियों के मध्य आतंक पूर्वक इस प्रकार आचरण धारण करके रहना चाहिए जैसे कि नक्षत्रों के मध्य में ग्रह ऊँचे स्थान में घूमता रहता है । इस सभासद को स्वयं दौरा करते रहना चाहिए । [३] प्रजा की रक्षा हेतु जो राजकर्मचारी राजा की ओर से नियत किये गये हैं उनके आचरण एवं समस्त कार्यो का निरीक्षण करते रहना चाहिए । स्वयं दौरा करके और गुप्तचरों

१—ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः ।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम् ॥
श्लोक १२४ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—नगरे नगरे वा स्यादेकः सर्वार्थचिन्तकः ॥
श्लोक १० अ० ८७ शा० पर्व ॥

३—उच्चैः स्थाने घोररूपो नक्षत्राणामिव ग्रहः ।
भवेत्स तान्परिक्रामेत्सर्वानेव सभासदः ॥
श्लोक ११ अ० ८७ शा० पर्व ॥

अध्याय सात

सेना

सेना के प्रकार—प्राचीन भारत के अन्य राजशास्त्र प्रणेताओं की भाँति मनु ने भी सप्तांग राज्य का एक अंग दण्ड माना है। मनु ने दण्ड शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है। उन्होंने इस जगत की स्थिति दण्ड के अधीन ही मानी है।[1] वह दण्ड के वाह्य रूप को बल अथवा सेना मानते है। महाभारत में दण्ड के गुप्त और प्रकाश यह दो रूप माने गए हैं। वहां भी प्रकाश दण्ड को सेना या बल माना गया है[2]।

मानवधर्मशास्त्र में यह संकेत रूप में बतलाया गया है कि राजा का अपना बल छः प्रकार का होता है[3]। परन्तु वहां यह कहीं भी स्पष्ट नहीं बतलाया गया है कि बल के यह छः प्रकार कौन-कौन हैं। कौटिल्य ने भी छः प्रकार का बल बतलाया है और जिसको उन्होंने मूल, भृतक, श्रेणी, मित्र, शत्रु और अटवि बल के नाम से सम्बोधित किया है[4]। भीष्म ने शान्ति पर्व में दण्ड का प्रकाश रूप बल अथवा सेना माना है और इस प्रकार के प्रकाश दण्ड को आठ प्रकार का बतलाया है[5]। उन्होंने यह आठ प्रकार का बल रथसेना, हस्ति सेना, अश्वारोही, नाविक, पैदलसेना, चर, विष्ट (भारवाहक) और उपदेशक से संयुक्त

१—तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि च।
भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च॥
श्लोक १५ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

२—प्रकाशश्चाप्रकाशश्च दण्डोऽथ परिशब्दितः॥
श्लोक ४० अ० ५९ शा० पर्व॥

३—षड्विधं च बलं स्वकम्॥ श्लोक १८५ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

४—मौलभृतकश्रेणीमित्रामित्राटवीबलानां समुद्दानकालाः॥
वार्ता १ अ० २ अधि० ९ अर्थशास्त्र॥

५—प्रकाशश्चाप्रकाशश्चदण्डोऽथ परिशब्दितः॥
श्लोक ४० अ० ५९ शा० पर्व॥

वर्णन किया है[1]। मनु ने सेना (बल) का जो वर्गीकरण छः प्रकार के अन्तर्गत किया है वह कौटिल्य अथवा भीष्म में से किस के अनुसार है स्पष्ट कहा नही जा सकता। परन्तु यह बतलाते हुए कि किस प्रकार की भूमि पर किस प्रकार की सेना से युद्ध कराना चाहिए उन्होंने सेना के पांच प्रकार बतलाए है जो रथ, अश्व, हस्ति, नाविक और पैदल सेना बतलायी गयी है। इस विषय में मनु के यह वाक्य हैं—सम भूमि में रथों और अश्वों से युद्ध होना चाहिए, पानी के स्थानों में हाथी और नौकाओ द्वारा, वृक्ष-लताओं से घिरी पृथ्वी पर धनुषों से और कण्टकादि रहित स्थल में खंगचर्मादि आयुधों (पैदल सेना) द्वारा युद्ध होना चाहिए।[2] मनु द्वारा दिए गए इस वर्णन से ऐसा ज्ञात होता है कि मनु का सेना का वर्गीकरण भीष्म द्वारा किए गए तत्सम्बन्धी वर्गीकरण से समानता रखता है। अन्तर केवल इतना प्रतीत होता है कि उन्होंने भीष्म द्वारा बतलाए गए अन्तिम तीन प्रकार (चर, विष्टि और उपदेशक) को एक ही में सम्मिलित कर उन तीनों को एक छठा प्रकार मान लिया है। इस प्रकार मनु ने सेना के रथ, अश्व, हस्ति, नाविक, पैदल और भारवाहक आदि यह छः प्रकार माने है और इसीलिए उन्होंने सेना अथवा बल को छः प्रकार का बतलाया है।

सेना के अधिकारी गण—मनु ने सेना के विभिन्न अधिकारियों एवं कर्मचारियों के नाम मानवधर्मशास्त्र में कहीं नही दिये है। इसलिए इस विषय का विशेष वर्णन नही किया जा सकता। उन्होंने सेना के दो पदाधिकारियों की ओर कुछ सकेत किया है परन्तु वह भी ऐसे स्पष्ट संकेत नहीं है जिनके आधार पर इन पदों एवं पदाधिकारियो के वास्तविक स्वरूप का बोध कराया जा सके। सेना के यह दो पदाधिकारी सेनापति एवं बलाध्यक्ष हैं। ऐसा विदित होता है कि राज्य की समस्त सेना जिस अधिकारी के अधीन रहती थी उसको सेनापति के नाम से मनु ने सम्बोधित किया है। राजा की मंत्रिपरिषद् का वह सदस्य भी होता था। ऐसा विदित होता है कि वही अमात्य नाम से सम्बोधित किया गया है क्योंकि मनु ने सेना विभाग अमात्य के अधीन रहना चाहिए ऐसा आदेश दिया है[3]। सेनापति के अधीन छः प्रकार की जो सेना होती थी उसमें से प्रत्येक प्रकार की सेना का एक अध्यक्ष होता था जो बलाध्यक्ष

१—रथानागाह्वयाश्चैव पदाताश्चैव पाण्डव।
विष्टिर्नाविश्चराश्चैव देशिका इति चाष्टमम्॥
श्लोक ४१ अ० ५६ शा० पर्व॥

२—स्यन्दनाश्वैः समे युध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले॥
श्लोक १९२ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

३—अमात्ये दण्डं आयत्तो॥ श्लोक ६५ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

कहलाता था। इस प्रकार एक सेना के कई बलाध्यक्ष होते थे। इन्हीं बलाध्यक्षों और सेनापति की ओर संकेत करते हुए मनु ने राजा को यह आदेश दिया है कि सेनापति और बलाध्यक्ष हर दिशा में हों अर्थात् उन्हें युद्ध भूमि में चारों दिशाओं में होनेवाली घटनाओं का ज्ञान रखना चाहिए।[१] इस प्रकार रथारोहियों का अपना अलग अध्यक्ष होता था, नागारोहियों का अलग और इसी प्रकार अश्वारोहियों, नाविक सेना एवं पैदल सेना के पृथक-पृथक अध्यक्ष होते थे। इन अध्यक्षों के अतिरिक्त अपने अपने प्रकार की सेना में अध्यक्षों के अधीन सैनिकों की अनेक टोलियां होती थी। इन टोलियों वा जत्थों को मानवधर्मशास्त्र में गुल्म के नाम से सम्बोधित किया गया है। प्रत्येक टोली वा गुल्म का एक नायक होता था। मनु ने इस प्रकार के टोलीनायक के पद का नाम नहीं दिया है। सम्भवतः यह टोली नायक गुल्मपति कहलाता होगा। इन गुल्मों की वीरता प्रदर्शन किए जाने वाले पृथक पृथक नाम भी युद्ध काल में रखे जाते थे[२], जिससे युद्ध करते समय उन्हें आदेश देने में किसी प्रकार की असुविधा न हो और न उसमें किसी प्रकार का भ्रम ही हो सके।

उपाय—राजा को अपने परम उद्देश्य की सिद्धि के निमित्त कतिपय उपायों का आश्रय लेना आवश्यक माना गया है। प्राचीन भारत के राजशास्त्र के लगभग सभी प्रणेताओं ने इन उपायों को मुख्य चार प्रकार का माना है जिन्हें साम, दान, भेद और दण्ड के नाम से सम्बोधित किया गया है। मनु ने भी उपाय के चार प्रकार बतलाए हैं। उन्होंने मानवधर्मशास्त्र में इन चार उपायों का उल्लेख करते हुए यह व्यवस्था दी है—विजय के अभिलाषी राजा को दुष्ट पुरुषों को साम आदि समस्त उपायों के द्वारा अपने वश में करना चाहिए।[३] यदि वह प्रथम तीन उपायों (साम, दान और भेद) से वश में न हो (चौथे उपाय) दण्ड से उसका दमन करना चाहिए।[४] इस प्रकार वह भी राजा की परम सिद्धि के

१—सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत् ॥
श्लोक १८९ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान्कृतसंज्ञान्समन्ततः ।
स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविमारिणः ॥
श्लोक १९० अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

३—एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः ।
तानानयेद्वशं सर्वान्सामादिभिरुपक्रमैः ॥
श्लोक १०७ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

४—यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः ।
दण्डेनैव प्रसह्यैतांश्छनकैर्वशमानयेत् ॥
श्लोक १०८ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

लिए साम,दान, भेद और दण्ड इन चार उपायों को अपनाने का आदेश देते हैं। मनु अपने से पूर्व के कतिपय पण्डितों का इस विषय में मत देते हुए कहते है—पण्डित गण सामादि चार उपायों में राष्ट्र की वृद्धि के निमित्त साम और दण्ड इन दो उपायों की प्रशंसा करते है।[१] जिस प्रकार खेती निरानेवाला धान्यों को रक्षा करता है और ऐसा करने के लिए तृणों का उन्मूलन करता है ठीक उसी प्रकार राजा को धर्मविरुद्ध आचरण धारण करने वालों को दण्ड के द्वारा दमन करना चाहिए।[२] मनु इन चार उपायों में से प्रथम तीन का पृथक-पृथक अथवा सब का एक ही साथ (आवश्यकतानुसार) प्रथम प्रयोग किया जाए ऐसा उचित समझते है। वह दण्ड उपाय का प्रयोग विवशता का उपाय मानते हैं।[३] इस विषय में मानवधर्मशास्त्र में इस प्रकार व्यवस्था दी गयी है—साम, दान और भेद इन में से एक-एक से अथवा तीनों से शत्रु से जय करने का प्रयत्न करना चाहिए, युद्ध से नहीं। इन तीनों उपायों के द्वारा जब सिद्धि प्राप्त न हो तब दण्ड का आश्रय लेना उचित होगा।[४]

महाभारत में भी इन चारों उपायों का उल्लेख किया गया है और यह बतलाया गया है कि इन उपायों का आश्रय लेने से राजा परमसिद्धि को प्राप्त होता है[५]। महाभारत के शान्ति पर्व में इन चारो उपायोंका उल्लेख है। कौटिल्य ने भी उपाय के चार प्रकार बतलाए हैं। वह भी इन्ही चार उपायों के आश्रित कार्य की सिद्धि मानते है और यह भी बतलाते हैं कि किन परिस्थियों में किस उपाय का आश्रय लेने से राजा का कल्याण हो सकता है। उन का मत है कि दुर्बल राजाओं को साम और दान उपायों से ही वश में करलेना चाहिए।[६] परन्तु जो शत्रु

१—सामादीनामुपायानां चतुराणामपि पण्डिताः ।
सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये ।।
श्लोक १०६ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

२—यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति ।
तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ।।
श्लोक ११० अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

३—साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक ।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन ।।
श्लोक १६८ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

४—त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसम्भवे ।
तथा युध्येत संपन्नो विजयेत रिपून्यथा ।।
श्लोक २०० अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

५—सामदानविभेदनैः ।। श्लोक १२ अ० १०७ शा० पर्व

६—सामदानाभ्यां दुर्बलानुपनमयेत् ।।
वार्ता ३ अ० १६ अधि० ७ अर्थशास्त्र ।।

बलवान हों उन को भेद और दण्ड से वश में करना चाहिये [१]। शुक्रनीति में भी उपाय के चार भेद बतलाये गए है । वह साम, दाम, भेद और दण्ड है जिनका प्रयोग सोच-विचार कर किया जाना चाहिए ऐसा शुक्र का मत है । [२] उपायो के महत्त्व का वर्णन करते हुए शुक्रनीति में ऐसा वर्णन मिलता है—लोहा बड़ा कठोर होता है परन्तु वह भी उपाय से पिघल जाता है । [३] लोक में यह प्रसिद्ध है कि पानी आग को बुझादेता है, परन्तु यदि उपाय से काम लिया जाय तो आग से समस्त जल सुखाया जा सकता है । [४] मदोन्मत्त हाथियों के मस्तक पर भी उपाय के द्वारा पैर रखा जाता है । [५] उपाय से तो सर्प, गज और सिंह भी वश मे आते देखे गए है । भूमि पर रहनेवाले मनुष्य उपाय से स्वर्ग पहुँच जाते है । उपाय से तो वज्र का भी भेदन किया जा सकता है ।[६] कामन्दक ने भी उपायों के द्वारा राजा की सिद्धि मानी है । उन्होंने साम, दान, भेद और दण्ड इन चार उपायो के अतिरिक्त माया, उपेक्षा, और इन्द्रजाल यह तीन और उपाय माने है । इस प्रकार राजा की विजय के हेतु कामन्दक ने सात उपायों का विधान किया है ।[७]

षाड्गुण्य मंत्र—प्राचीन भारत में राजशास्त्र प्रणेताओं ने राज्य का मूल मत्र माना है । मानवधर्मशास्त्र में राजा को अपने मंत्रियों के मध्य मंत्र निश्चय करना चाहिए ऐसा आदेश किया गया है । [८] मनु ने यह मंत्र छः प्रकार का

१—भेददण्डाभ्यां बलवतः ।। वार्ता ४ अ० १६ अधि० ७ अर्थशास्त्र ।।

२—सामदानभेददण्डांश्चिन्तनोयाः स्व युक्तिभिः ।।
श्लोक २३ अ० ४ शुक्रनीति ।।

३—अयोभेद्यमुपायेन द्रवतामुपनीयते ।।
श्लोक ११२६ अ० ४ शुक्रनीति ।।

४—लोकप्रसिद्धमेवैतद्वारिवह्नेर्नियामकम् ।
उपायोपगृहीतेन तेनैतत्परिशोष्यते ।।
श्लोक ११२७ अ० ४ शुक्रनीति ।।

५—उपायेनपदं मूर्ध्निन्यस्यते मत्तहस्तिनाम् ।।
श्लोक ११२८ अ० ४ शुक्रनीति ।।

६—उपायेन यथा व्यालो गजः सिंहोपिसाध्यते ।
भूमिष्ठाः स्वर्गमायांति वज्रं भिंदत्युपायतः ।।
श्लोक २२ अ० ४ शुक्रनीति ।।

७—सामदानञ्च दण्डश्च भेदश्चेति चतुष्टयम् ।
मायोपेक्षेन्द्रजालं च सप्तोपायाः प्रकीर्तिताः ।।
श्लोक ३ सर्ग १७ कामन्दकीय नीतिसार ।।

८—सर्वा मंत्रयेत्सह मंत्रिभिः ।। श्लोक १४६ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

बतलाया है। इसी लिए वह षाड्गुण्य मंत्र कहलाता है।[१] प्राचीन भारत के प्रायः सभी आचार्यों ने यह मंत्र छः प्रकार का बतलाया है। महाभारत में षाड्-गुण्य मंत्र के गुण गाए गए हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म राजा युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए बतलाते हैं कि षाड्गुण्य मंत्र, त्रिवर्ग तथा परम त्रिवर्ग को जो राजा विधिवत जानलेता है वही इस सम्पूर्ण पृथ्वी का भोग करता है।[२] कौटिल्य भी मंत्र को षाड्गुणी मानते हैं।[३] शुक्रनीति में भी मंत्र षाड्गुणी माना गया है, और बतलाया गया है कि राजा को षाड्गुण्यमंत्रवित होना चाहिए।[४] इस प्रकार मनु ने राज्य का मंत्र जो षाड्गुण्य मंत्र बतलाया है उसका समर्थन प्राचीन भारत के राजशास्त्र के प्रमुख आचार्यों ने उसी रूप में किया है।

मनु षाड्गुण्य मंत्र के छः गुणों को स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि मंत्र के यह छः गुण सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय होते हैं।[५] महाभारत में भी षाड्गुण्य मंत्र के छः गुण सन्धि, आसन, यात्रा, विग्रह, द्वैधीभाव और संश्रय वर्णन किये गए हैं।[६] कौटिल्य अर्थशास्त्र में कतिपय आचार्यों का मत देते हुए बतलाते है कि आचार्यों के मतानुसार संन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय और द्वैधीभाव यह छः गुण षाड्गुण्य मंत्र के होते है।[७] परन्तु

१—मंत्रयेत्परमं मंत्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम् ॥
श्लोक ५८ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—षाड्गुण्यं च त्रिवर्गं च त्रिवर्गं परमंतथा ।
यो वेत्ति पुरुषव्याघ्र स भुंक्ते पृथ्वीमिमाम् ॥
श्लोक ६६ अ० ६९ शा० पर्व ॥

३—षाड्गुण्यमेवैतदवस्थाभेदादिति कौटल्यः ॥
वार्ता ५ अ० १ अधि० ७ अर्थशास्त्र ॥

४—यो वै सुपुष्ट संभारस्तथा षड्गुण मंत्रवित् ।
वह्वस्त्र संयुक्तो राजा योद्धमिच्छेत्सएवहि ॥
श्लोक १०५१ अ० ४ शुक्रनीति ॥

५—संधिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च ।
द्वैधीभावं सश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत्सदा ॥
श्लोक १६० अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

६—षाड्गुण्यमिति यत्प्रोक्तं तन्निबोध युधिष्ठर ।
सन्धानासनमित्येव यात्रासन्धामेव च ॥
श्लोक ६७ अ० ६९ शा० पर्व ॥
विगृह्यासनमित्येव यात्रां संपरिगृह्य च ।
द्वैधीभावस्तथाऽन्येषां संश्रयोऽथ परस्य च ॥
श्लोक ६८ अ० ६९ शा० पर्व ॥

७—सन्धिविग्रहासनयानसंश्रयद्वैधीभावाः षाड्गुण्यमित्याचार्याः ॥
वार्ता २ अ० १ अधि० ७ अर्थशास्त्र ॥

आचार्य वातव्याधि का मत है कि गुण केवल दो ही होते हैं। [1] सन्धि और विग्रह में ही शेष चार गुणों का अन्तर्भाव है। [2] परन्तु कौटिल्य आचार्य वातव्याधि के इस मत से सहमत नहीं हैं। वह सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय और द्वैधीभाव इन छहो गुणों को मानते है। [3] शुक्रनीति में भी सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव यह मंत्र के छः गुण माने गए हैं। [4] इन गुणों में से किस समय और किस गुण का आश्रय लेना उचित होगा इस विषय में मानवधर्मशास्त्र में यह व्यवस्था दी गयी है—आसन, यान, सन्धि, विग्रह द्वैध और संश्रय इन गुणों में से अवसर देखकर जब जैसा उचित हो किसी गुण का आश्रय लेना चाहिए। [5]

(क) सन्धि—मानवधर्मशास्त्र में सन्धि की परिभाषा नही की गयी है। परन्तु अन्य कतिपय आचार्यो ने सन्धि की परिभाषा विशेष रूप से की है। इसी प्रकार इन आचार्यों ने उन परिस्थितियों का भी सक्षेप में उल्लेख किया है जिन परिस्थितियों में सन्धि गुण का आश्रय लेना उचित होगा। इस विषय में भी मनु मौन हैं। उन्होंने ऐसा बतलाया है कि राजा को कार्य देखकर इन का उपयोग करना चाहिए।

आचार्य कौटिल्य अर्थशास्त्र में सन्धि की परिभाषा करतेहुए बतलाते है कि प्रण के आधार पर दो राजाओं में जो परस्पर बन्धन हो जाता है सन्धि कहलाता है। [6] शुक्र ने सन्धि की परिभाषा इस प्रकार की है—जिस क्रिया के द्वारा बलवान शत्रु राजा मित्र बन जाए वह क्रिया सन्धि कहलाती है। [7]

१—द्वैगुण्यमिति वातव्याधिः।
वार्ता ३ अ० १ अधि० ७ अर्थशास्त्र ॥

२—सन्धिविग्रहाभ्यां हि षाड्गुण्यं संपद्यत इति ॥
वार्ता ४ अ० १ अधि० ७ अर्थशास्त्र ॥

३—षाड्गुण्यमेवैतदवस्थाभेदादिति कौटल्यः ॥
वार्ता ५ अ० १ अधि० ७ अर्थशास्त्र ॥

४—सन्धिं च विग्रहं यानमासनं च समाश्रयम्।
द्वैधीभावं च संविद्यान्मंत्रस्यै तांस्तु षड्गुणान् ॥
श्लोक १०६५ अ० ४ शुक्रनीति ॥

५—आसनं चैव यानं च सन्धिं विग्रहमेव च।
कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥
श्लोक १६१ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

६—तत्र पणबन्धः सन्धिः ॥ वार्ता ६ अ० १ अधि० ७ अर्थशास्त्र ॥

७—याभिः क्रियाभिर्बलवान्मित्रतां याति वैरिणः।
साक्रिया सन्धिरित्युक्ता विमृशेतांतु यत्नतः ॥
श्लोक १०६६ अ० ४ शुक्रनीति ॥

मानवधर्मशास्त्र में सन्धि के दो प्रकार बतलाए गए हैं। प्रथम प्रकार की सन्धि समानयानकर्मा और द्वितीय प्रकार की सन्धि असमानयानकर्मा बतलायी गयी है।[१] इन दोनों प्रकार की सन्धियों से मनु का वास्तविक क्या तात्पर्य था इस विषय को मनु ने स्पष्ट नहीं किया है। परन्तु जैसा कि इन दोनों पदों के अर्थ करने से जो अर्थ बोध होता है उस से यह विदित होता है कि सन्धि के जो यह दो प्रकार बतलाए गए हैं उनका आधार यान माना गया है अर्थात दो राजाओं में जब यह निश्चय करके सन्धि की जाए वह दोनों राजा शत्रु राजा पर एकसाथ मिलकर आक्रमण करेंगे तो इस उद्देश्य से की गयी सन्धि समानयानकर्मा सन्धि कहलाएगी। इस के विपरीत जब इस उद्देश्य से दो राजा परस्पर सन्धि करते है कि एक मित्र राजा को एक ओर और दूसरे को दूसरी ओर वाले शत्रुओं पर आक्रमण करना होगा तो इस प्रकार की सन्धि असमानयानकर्मा सन्धि मानी गयी है।

कौटिल्य अनेक प्रकार की सन्धि मानते है। किस परिस्थिति में किस प्रकार की सन्धि की जानी चाहिए इस विषय में कौटिल्य अपने से पूर्व के कतिपय आचार्यो के मतों का उल्लेख करते हुए बतलाते हैं—जब राजा अपने को शत्रु की अपेक्षा हीन शक्ति वाला पाए तो ऐसी स्थिति में सन्धि का आश्रय लेलेना उचित होगा।[२] यदि शत्रु का क्षय और उसकी वृद्धि समान ही दिखलायी पड़े तो भी सन्धि करलेनी उचित होगा।[३] यदि आसन ग्रहण करने पर भी कोई वृद्धि दिखलायी न दे और शत्रु तथा अपनी वृद्धि समान ही दिखलायी दे तो राजा को सन्धि करलेनी चाहिए।[४] यदि अपने तुल्य शत्रु की भी भविष्य में वृद्धि होती दिखलायी दे तो ऐसे शत्रु से सन्धि करलेनी चाहिए।[५]

परन्तु कौटिल्य इन आचार्यो के मत से सहमत नही है।[६] वह अपना मत देते हुए कहते है—यदि राजा यह देखता है कि सन्धि करलेने से वह बड़े उत्तम

१—समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च।
तदा त्वायतिसंयुक्तः सन्धिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः॥
श्लोक १६३ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

२—परस्माद्धीयमानः संदधीत॥ वार्ता १२ अ० १अधि० ७ अर्थशास्त्र॥

३—तुल्यकाल फलोदये वा क्षये सन्धिमुपेयात्॥
वार्ता २७ अ० १ अधि० ७ अर्थशास्त्र॥

४—तुल्यकाल फलोदये वा स्थाने सन्धिमुपेयादित्याचार्याः॥
वार्ता ३० अ० १ अधि० ७ अर्थशास्त्र॥

५—तुल्यकाल फलोदयायां वा वृद्धौ सन्धिमुपेयात्॥
वार्ता २३ अ० १ अधि० ७ अर्थशास्त्र॥

६—नैतद्विभाषितमिति कौटल्यः॥ वार्ता ३१अ० १अधि० ७ अर्थशास्त्र॥

कर्म करके शत्रु के कामों को हानि पहुँचा सकेगा या अपने उत्तम कर्मों के फलों के साथ शत्रु के महान कर्मों का कभी लाभ उठा सकेगा, सन्धि के धोखे विष प्रयोग आदि के द्वारा शत्रु का नाश कर सकेगा तो उस राजा को सन्धि कर लेनी चाहिए। इसी प्रकार शत्रु के उत्तम-उत्तम मनुष्यों को कृपा दिखाकर और उन के कष्टों के नाश करदेने का वचन देकर तथा उनको अधिक फल या लाभ दिखलाकर अपनी कार्यकुशलता से अपनी ओर खीच ले आएगा, अत्यन्त बलवान से सन्धि करने से शत्रु अपने कामों को हानि पहुँचालेगा जिससे विग्रह करने के लिए उस राजा से मिलना चाहता है उससे ही लम्बा युद्ध करवादेगा, यदि इस की उस राजा से सन्धि होगी तो यह उसके शत्रु के देश को जाकर पीडित करेगा। शत्रु में क्षीण बल हो जाने पर इस का यह देश उसके अधिकार में हो सकेगा। इसके पश्चात वह अपने दुर्ग आदि की उन्नति कर सकेगा। जब शत्रु विपत्ति आने के कारण काम करने से विपदग्रस्त हो जाएगा तो यह उसके राज्य पर आक्रमण न कर सकेगा। यदि दूसरे की सहायता से उसने कार्य प्रारम्भ किया और उन दोनो से सन्धि करलेने पर उसके कामों कीभी वृद्धि होगी, शत्रु से सन्धि करने पर शत्रु के मण्डल के तोडने में समर्थ हो सकेगा और जब उनमें भेद हो जाएगा तो वह शत्रु को वश मे करलेगा. वह इस समय सेवा की सहायता देकर जब शत्रु का उपकार करदेगा तो यह शत्रु राजा यदिअपने मण्डल से मिलना चाहेगा तो वह उसको उससे मिलने नही देगा और जब इनका परस्पर द्वेष हो जाएगा तो इस को उनसे ही मरवादेगा, जब राजा इस प्रकार की परिस्थिति देखे तो उसको सन्धि करलेनी चाहिए।[१] इस प्रकार कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के अन्तर्गत उन परिस्थितियों का वर्णन दिया है जिनके प्रस्तुत होने से राजा को सन्धि गुण का आश्रय लेना चाहिए। मनु ने ऐसी परिस्थितियों का उल्लेख कहीं भीन ही किया है। इस लिएइस दृष्टिमे कौटिल्य और मनु में बड़ा अन्तर प्रतीत होता है।

१—सन्धौ स्थितो महाफलैः स्वकर्मभिः परकर्माण्युपहनिष्यामि। महाफलानि वा स्वकर्माण्युपभोक्ष्ये परकर्माणि वा। सन्धि विश्वासेन वा योगोपनिषत्प्रणिधिभिः परकर्माण्युपहनिष्यामि। सुखं वा सानुग्रह परिहार सौकर्य फललाभभूयस्त्वेन स्वकर्मणा परकर्मयोगावहजन मास्राव‌यिष्यामि। बलिनातिमात्रेण वा संहितः परः स्वकर्मोपघातं प्राप्स्यति। येनवा विगृहीतो मया संधत्ते तेनास्य विग्रहं दीर्घं करिष्यामि मया वा संहितस्य मद्द्वेषिणो जनपदं पीडयिष्यति। परोपहतो वास्य जनपदो मामागमिष्यति। ततःकर्मसु वृद्धिं प्राप्स्यामि। विपन्न कर्मारम्भो वा विषमस्थः पुरः कर्मसु नमे विक्रमेत। परतः प्रवृत्तकर्मारम्भो वा ताभ्यां संहितः कर्मसु वृद्धिं प्राप्स्यामि। शत्रु प्रतिबद्धं वा शत्रुणा सन्धिं कृत्वा मण्डलं भेत्स्यामि। भिन्नमवाप्स्यामि। दण्डानुग्रहेण वा शत्रुमुपगृह्य मण्डललिप्सायां विद्वेषं ग्राहयिष्यामि। विद्विष्टं तेनैव घातयिष्यामीति सन्धिना वृद्धिमातिष्ठेत्॥

वार्ता ३२ से ४७ तक अ० १ अधि० ७ अर्थशास्त्र॥

शुक्र ने भी सन्धि किन परिस्थितियों मे की जानी चाहिए इस विषय पर अपना मत प्रकट किया है । वह सन्धि के महत्व का वर्णन करते हुए कहते हैं कि राजाओं को चाहिए कि वह युद्ध से सदैव बचते रहे । जब युद्ध के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय दिखलायी ही न पड़े ऐसी स्थिति में विवश होकर युद्ध करना ही पड़ता है[१] । बलवान के साथ युद्ध करना चाहिए इस का तो कोई उदाहरण ही नही है । प्रचण्ड वायु की ओर कभी मेघ जाता हुआ नही देखा गया है[२] । सन्धि तो अनार्य राजा से भी कर लेनी चाहिए । जब सन्धि हो जाती है तो उसके अन्य शत्रु नष्ट हो जाते हैं । जब बांसोंका समूह बँध जाता है और काटों से घिर जाता है तो उसको कोई काट नहीं सकता । जिस प्रकार सघातकारी काटों से युक्त बांस काटा नही जा सकता इसी प्रकार अनार्य राजा से मिल जाने पर अन्य शत्रु राजा को उखाड़ नही सकते[३] । जब किसी राजा पर बलवान शत्रु आक्रमण करदे और उस समय अन्य कोई उपाय न दिखलायी पड़े तो विपदग्रस्त राजा को अपने शत्रु से सन्धि कर लेनी चाहिए और फिर शत्रु के विपरीत समय की प्रतीक्षा करते रहना चाहिए । सन्धि करलेनी ही शत्रु के लिए एक भेंट मानी गयी हैं । समय पर सन्धि कर लेनी चाहिए ऐसा शुक्र का मत है[४] । शुक्रनीत मे इस विषय का भी उल्लेख है कि जब एक सबल राजा निर्बल राजा पर आक्रमण कर देता है और वह निर्बल राजा इस प्रकार सकट मे पड़कर कन्या, भूमि अथवा धन का उपहार उस सबल राजा को देकर सन्धि करने पर विवश हो जाता है और सन्धि कर लेता है तो इस प्रकार की सन्धि स्थायी रहे यह सर्वांश सत्य नही है । राजा को सदैव सचेत एवं सचेष्ट रहना चाहिए क्योंकि विवश होकर की गयी सन्धि वास्तविक सन्धि नही होती । इस प्रकार की सन्धि केवल समय टालने के लिए की जाती है । इस विषय मे शुक्र का मत इस प्रकार

१—उपायान्तर नाशे तु ततो विग्रहमाचरेत ।।
श्लोक १०८५ अ० ४ शुक्रनीति ।।

२—बलिनासह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम् ।
प्रतिवातं हीनघनः कदाचिदपि सर्पति ।।
श्लोक १०७७ अ० ४ शुक्रनीति ।।

३—सन्धिःकार्योप्यनार्येण संप्राप्योत्सादयेद्धिसः ।
संघातवान्यथावेणुर्निबिड़ैः कण्टकैर्वृतः ।।
श्लोक १०७५ अ० ४ शुक्रनीत ।।
न शक्यते समुच्छेत्तुं बेणुः संघातवांस्तथा ।।
श्लोक १०७६ अ० ४ शुक्रनीति ।।

४—बलीयसाभियुक्तस्तुनृपो नान्यप्रतिक्रियः ।।
श्लोक १०७० अ० ४ शुक्रनीति ।।
आपन्नः सन्धिमन्विच्छेत्कुर्वाणः कालपालनम् ।
एक एवोपहारस्तु सन्धिरेवमतोहितः ।।
श्लोक १०७१ अ० ४ शुक्रनीति ।।

है—जो बुद्धिमान राजा होता है वह सन्धि कर लेने पर भी विश्वास नही करता है। इन्द्र ने वृत्तासुर से बैर नहीं रखन की सन्धि करन पर भी उसको मार गिराया था। यह पूर्व कालीन कथा प्रसिद्ध है[१]। इस प्रकार शुक्र समयानुसार सन्धि की जाए इस सिद्धान्त में विश्वास करते हैं।

कामन्दक ने भी उस परिस्थिति का वर्णन किया है जिस के वशीभूत होकर राजा को सन्धि करनी पड़ती है। वह इस परिस्थिति का वर्णन करते हुए बतलाते है कि जब राजा किसी दूसरे बलवान शत्रु राजा से आक्रान्त हो जाए और अपनी रक्षा का कोई उपाय न दिखलाई पड़े तो ऐसी अवस्था में विपदग्रस्त राजा को समय व्यतीत करने के लिए सन्धि कर लेनी चाहिए[२]। कामन्दक यह बतलाते है कि सन्धि गुण के विशेषज्ञों ने सन्धि के सोलह प्रकार बतलाए हैं[३]। इन सोलह प्रकार की सन्धियों में उपहार सन्धि को वह सब सन्धियों से श्रेष्ठ सन्धि मानते है[४]। उनका मत है कि आक्रमण करने वाला बली शत्रु बिना लोभ की निवृत्ति के लौटता ही नही। इस लिए ऐसे शत्रु राजा से उपहार के अतिरिक्त अन्य सन्धि की ही नहीं जा सकती[५]। इस प्रकार कामन्दक ने भी सन्धि के अनेक भेद बतलाए है और जो मनु द्वारा वर्णित सन्धि-भेदों से भिन्नता रखते है।

(ख) विग्रह—मनु ने षाड्गुण्य मंत्र का एक गुण विग्रह भी माना है। उन्होंने विग्रह की परिभाषा नहीं की है। अर्थशास्त्र में विग्रह की परिभाषा इस प्रकार की गई है—परस्पर एक दूसरे के अपकार में संलग्न हो जाना विग्रह

१—राजा नगच्छेद्विश्वासं सन्धितोपिहि बुद्धिमान् ॥

श्लोक १०७९ अ० ४ शुक्रनीति ॥

अद्रोह समयं कृत्वा वृत्रमिन्द्रः पुराऽवधीत् ॥

श्लोक १०८० अ० ४ शुक्रनीति ॥

२—बलीयसाभियुक्तस्तु नृपो ऽनन्यप्रतिक्रियः।
आपन्नः सन्धिमन्विच्छेत्कुर्वाणः कालयापनाम् ॥

श्लोक १ सर्ग ९ कामन्दकीय नीतिसार ॥

३—इति षोडशकं प्राहुः सन्धिं सन्धिविचक्षणाः ॥

श्लोक ४ सर्ग ९ कामन्दकीयनीतिसार ॥

४—एस एवोपहारस्तु सन्धिरेतन्मतं हि नः।
उपहारस्य भेदास्तु सर्वेऽन्ये मैत्रवीर्ज्जताः ॥

श्लोक २१ सर्ग ९ कामन्दकीयनीतिसार ॥

५—अभियोक्ता बली यस्मादलब्ध्वा न निवर्त्तते।
उपाहाराहृते तस्मात्सन्धिरन्यो न विद्यते ॥

श्लोक २२ सर्ग ९ कामन्दकीयनीतिसार ॥

कहलाता है [१]। शुक्र के मतानुसार जिस क्रिया के द्वारा पीड़ित किया गया शत्रु अपने अधीन हो जाता है उस क्रिया को विग्रह कहते हैं।[२]

मनु ने विग्रह दो प्रकार का वर्णन किया है। पहला स्वयंकृत विग्रह और दूसरा मित्रस्य अपकृतः विग्रह। स्वयंकृत विग्रह से उनका तात्पर्य उस विग्रह से है जिसको अपने शत्रु को विजय करने के लिये काल अथवा अकाल किसी समय में स्वयं किया जाता है। दूसरा प्रकार का विग्रह उन्होंने वह माना है जिसमें अपनेमित्र के उपकार के कारण उसके लिए उसके अपकारी शत्रु से विग्रह किया जाता है।[३]

किन परिस्थितियों में राजा को विग्रह का आश्रय ग्रहण करना चाहिए इस विषय में अर्थशास्त्र मेंइस प्रकार विचार प्रकट किए गए है—यदि राजा शत्रु से अपनेको बलवान समझता है तो विग्रह को अपनाना चाहिए। [४] यदि विजयाकांक्षी राजा यह देखता है कि उसके राज्य में लोग प्रायः शस्त्रचलानें में समर्थ और संघठित है तथा नदी, पर्वत, वन और दुर्गो से उसका राज्य सम्पन्न है। उसमें प्रवेश का केवल एक ही मार्ग है, वह शत्रु के आक्रमण का उत्तर देने में सर्वथा समर्थ है, वह अपने राज्य की सीमा के दृढ़ दुर्ग में स्थित होकर शत्रु के कार्यो का नाश कर सकता है, व्यसन और कष्टों से शत्रु का सारा उत्साह नष्ट हो रहा है, इस समय उसको वश में किया जा सकता है, यदि युद्ध छिड़ गया तो वह शत्रु के कुछ देश दवा सकेगा, ऐसी परिस्थिति में उस राजा को विग्रह का आश्रय लेना चाहिए। [५]

१—अपकारो विग्रहः ॥

वार्ता ७ अ० १ अधि० ७ अर्थशास्त्र ॥

२—विकर्षितः सन्नाधीनो भवेच्छत्रुस्तु येन वै ॥

श्लोक १०६७ अ० ४ शुक्रनीति

कर्मणा विग्रहस्तं तु चिन्तयेन्मंत्रिभिर्नृपः ॥

श्लोक १०६८ अ० ४ शुक्रनीति

३—स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकालेकाल एव वा।
मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः ॥

श्लोक १६४ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

४—अभ्युच्चीयमानोति गृह्णीयात् ॥

वार्ता १३ अ० १ अधि० ७ अर्थशास्त्र ॥

५—यदि वा पश्येत्। आयुधीयप्रायः श्रेणीप्रायो वा मे जनपदः शैल वननदीदुर्गकद्वारारक्षो वा शक्ष्यति पराभियोगं प्रतिहन्तुमिति। विषयान्ते दुर्गमविषह्यमपा क्षितो वा शक्ष्यामि परकर्माण्युपहन्तु मिति। व्यसन पीडोपहतोत्साहो वा परः सम्प्राप्तकर्मोपघातकाल- इति। विगृहीतस्यान्वतो वा शक्ष्यामि जनपदमपवाहयितुमिति। विग्रहे स्थितो वृद्धिमातिष्ठेत् ॥

वार्ता ४८ से ५२ अ० १ अधि० ७ अर्थशास्त्र ॥

शुक्र के मतानुसार जिस शत्रु राजा की सेना और मित्र निर्बल पड़ चुके हों, किसी दुर्ग मे बन्द होकर बैठा हो, दो शत्रुओं से घिरा हुआ हो अथवा भोग-विलास मे अत्यन्त व्यस्त हो, जो प्रजा के द्रव्य का अपहरण कर रहा हो, जिस के मंत्रियो और सेना मे भेद हो ऐसे शत्रु पर आक्रमण कर उसकोवश में करलेना चाहिए। इस कार्य को ही विग्रह कहते ह।[१] इस के पूर्व की दशा कलह कहलाती है।[२]

(ग)यान—मनु ने यान गुण की भी परिभाषा नही की है। उन्होने केवल यान के भेदो का उल्लेख किया है। मनु ने यान के दो भेद बतलाए है। प्रथम प्रकार का यान (आक्रमण) वह है जिस में विजयाकाँक्षी राजा अकेला (बिना मित्र की सहायता लिए हुए) ही कार्य वश आक्रमण करता है। इस प्रकार के यान को मनु ने एकाकिन यान के नाम से सम्बोधित किया है। यान का दूसरा वह प्रकार है जिस मे राजा मित्र के साथ होकर शत्रु पर आक्रमण करता है ऐसी मनु व्यवस्था देते है। इस प्रकार के यान को वह मित्रसंहतयान कहते है।[३]

कौटिल्य यान की व्याख्या करते हुए यह व्यवस्था देते है—किसी राजा पर आक्रमण करने का नाम यान है।[४] शत्रु के कार्य का नाश यान के द्वारा ही सम्भव है। अपनी रक्षा का प्रबन्ध कर दिया है जब राजा ऐसा समझ ले तो ऐसी स्थिति मे यान का आश्रय लिया जा सकता है।[५]

शुक्र के मतानुसार अपने इच्छित फल, विजय प्राप्ति की कामना, से शत्रु के नाश के निमित्त जो गमन किया जाता है उसे यान कहते है। शुक्र इस यान के

१—प्रहीन बलमित्रं तु दुर्गस्थं ह्यंतरागतम् ॥

श्लोक १०८१ अ० ४ शुक्रनीति ॥

अत्यन्त विषयासक्तं प्रजाद्रव्यापहारकम्।

भिन्न मंत्रि बलं राजा पीडयेत्परिवेष्टयन् ॥

श्लोक १०८१ अ० ४ शुक्रनीति ॥

विग्रहः स च विज्ञेयो ॥ श्लोक १०८३ अ० ४ शुक्रनीति ॥

२—ह्यन्यश्च कलहः स्मृतः ॥ श्लोक १०८३ अ० ४ शुक्रनीति ॥

३—एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया।

संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते ॥

श्लोक १६५ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

४—अभ्युच्चययोयानम् ॥ वार्ता ६ अ० १ अधि० ७ अर्थशास्त्र।

५—यानसाध्यः कर्मोपघातः शत्रोः प्रतिविहितस्वकर्मारक्षश्चास्मीति यानेन वृद्धिमातिष्ठेत् ॥

वार्ता ५९ अ० १ अधि० ७ अर्थशास्त्र।

विग्रहयान, संधाययान, संभूययान, प्रसंगयान और उपेक्षायान यह पाँच भेद मानते हैं।[१]

(घ)आसन--मानवधर्मशास्त्र में आसन के भी दो भेद बतलाए गए हैं। एक वह आसन माना गया है जिस में राजा का अपने पूर्व कर्म के कारण क्षीण होकर चुपचाप बैठे रहना और दूसरा मित्र के अनुरोध से मौन बैठना बतलाया गया है।[२]

अर्थशास्त्र में (किसी समय वा परिस्थिति की) प्रतीक्षा में मौन बैठे रहने को आसन बतलाया गया हैं।[३] यदि राजा के विचार में यह बात आए कि शत्रु इतना समर्थ नही है कि वह मेरे कार्यो में हानि पहुँचा सकेगा और न मैं ही इतनी सामर्थ्य रखता हूँ कि मैं शत्रु के कार्यो को हानि पहुँचा सकता हूं, यद्यपि शत्रु राजा पर व्यसन है परन्तु कलह में कुत्ता और शूकर की कलह के तुल्य कोई फल नहीं निकलेगा, यदि मैं अपना कार्य करता रहा तो वृद्धि को प्राप्त हो जाता ऐसी परिस्थिति मे राजा को चुप-चाप बैठकर आसन का अवलम्बन करना चाहिए ऐसा कौटिल्य का मत है।[४]

जिस स्थान पर बैठने से अपनी रक्षा और शत्रु का नाश सम्भव हो उस स्थान पर बैठने को शुक्र ने आसन माना है।[५] उन्होंने आसन के भी कयी भेद बतलाए है। शुक्रनीति में उन सब का स्पष्ट वर्णन नही किया गया हैं।

(ङ) संश्रय--मनु ने आश्रय गुण को संश्रय नाम से सम्बोधित किया है।

१—विगृह्य संधाय तथा संभूयाय प्रसंगतः ॥
श्लोक १०८५ अ० ४ शुक्रनीति ॥
उपेक्षयाच निपुणैर्यानं पंच विधं स्मृतः ॥
श्लोक १०८६ अ० ४ शुक्रनीति ॥

२—क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात् पूर्वकृतेन वा।
मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥
श्लोक १६६ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

३—उपेक्षणमासनम् ॥
वार्ता ८ अ० १ अधि० ७ अर्थशास्त्र ॥

४—यदि वा मन्येत।
नमेशक्तः परः कर्माण्युपहन्तुम्।
नाहं तस्य कर्मोपघाती वा।
व्यसनमस्य श्ववराहयोरिव कलहे वा।
स्वकर्मानुष्ठान परो वा वर्धिष्य इत्यासनेन वृद्धिमातिष्ठेत् ॥
वार्ता ५३ से ५७ तक अ० १ अधि० ७ अर्थशास्त्र ॥

५—स्वरक्षणं शत्रु नाशोभवेत्स्थानात्तदासनम् ॥
श्लोक १०६९ अ० ४ शुक्रनीति ॥

उन्होंने संश्रय गुण दो प्रकार का बतलाया है। शत्रु से पीड़ित राजा को अपने प्रयोजन की सिद्धि के निमित्त किसी की शरण लेना, और सज्जनों के साथ व्यपदेश (भविष्य में शत्रु पीड़ने की आशंका से) के लिए शरण लेना यह दो प्रकार का संश्रय बतलाया गया है। [1]

कौटिल्य ने भी आश्रय को संश्रय नाम से सम्बोधित किया है। कौटिल्य संश्रय गुण की व्याख्या करते हुए यह व्यवस्था देते हैं—अपने आप को दूसरे (शत्रु अथवा अन्य बलवान राजा) को समर्पण कर देना संश्रय कहलाता है। [2] राजा को किस परिस्थिति में संश्रय गुण का आश्रय लेना चाहिए इस विषय में कौटिल्य इस प्रकार व्यवस्था देते है--जब राजा यह समझ ले कि मैं शत्रु के कामों में हानि नही पहुँचा सकता और न मै अपने कामों की ही रक्षा करने में समर्थ हूँ इस दशा मे बलवान का आश्रय लेना चाहिए। [3]

शुक्रनीति में संश्रय गुण को आश्रय गुण कहा गया है। इस गुण की व्याख्या करते हुए शुक्र ने इस प्रकार व्यवस्था दी है—जिन मित्रों से सुरक्षित होकर दुर्बल राजा भी बलवान हो जाए ऐसे सबल राजा का सहारा लेना आश्रय कहलाता है। [4] जब प्रबल शत्रु द्वारा किसी राजा के राज्य का मूलोच्छेद कर दिया गया हो और राजा को कोई दूसरा उपाय दिखलायी न पड़ता हो तो ऐसी परिस्थिति में उस राजा को किसी कुलीन, आर्य, सत्यवादी और बलवान राजा का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। विजेता राजा के ही मित्र, सम्बन्धी और बान्धव सहायक होते है। जिनको अपनी भूमि का कुछ भाग दिया हो अथवा जो भूमि में अंशभोक्ता हों उनके आश्रय में चले जाने को आश्रय कहते

१—अर्थसम्पादनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः।

साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥

श्लोक १६८ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—परार्पणं संश्रयः ॥

वार्ता १० अ० १ अधि० ७ अर्थशास्त्र ॥

३—यदि वा मन्येत -

नास्मि शक्तः परकर्माण्युपहन्तुं स्वकर्मोपघातं वा त्रातुमिति बलवन्तमाश्रितः ॥

वार्ता ६० से ६१ अ० १ अधि० ७ अर्थशास्त्र ॥

४—यैर्गुप्तो बलवान्भूयाद्दुर्बलोऽपि स आश्रयः ॥

श्लोक १०६६ अ० ४ शुक्रनीति ॥

है । ऐसे ही किसी दृढ दुर्ग में चले जाने को भी विद्वानों ने आश्रय माना है । [१]

(च)द्वैध—मनु ने द्वैध गुण को भी दो प्रकार का बतलाया है । मनु के मतानुसार अर्थ सिद्धि के लिए राजा को अपनी कुछ सेना को एक स्थान पर सेनापति के साथ स्थापित करना तथा शेष सेना के साथ राजा का स्वयं दुर्ग में रहना यह दो प्रकार का द्वैध गुण होता है ।[२] अर्थशास्त्र में एक राजा से सन्धि करना और दूसरे से विग्रह करना द्वैधीभाव गुण माना गया है ।[३] अपनी सेना की टोलियों को स्थान-स्थान पर करना,शुक्र के मतानुसार द्वैधीभाव गुण माना गया है । [४] एक के साथ सन्धि और दूसरे के साथ विग्रह करने से मै अपने कार्यों को साध सकूंगा और शत्रु के कार्यो को नष्ट कर सकूंगा ऐसा जब राजा समझ ले तो उसको द्वैधीभाव का अवलम्बन करके अपनी वृद्धि करनी चाहिए । ऐसा कौटिल्य का मत है । [५]

इस प्रकार मनु ने जिस षाड्गुण्यमंत्र का मानवधर्मशास्त्र में उल्लेख किया है उसका वर्णन कुछ विशेषताओं के साथ अर्थशास्त्र एवं शुक्रनीति में भी उपलब्ध है ।

मण्डल-सिद्धान्त—विभिन्न राज्यों में किस प्रकार के पारस्परिक सम्बन्ध स्थिर किए जाने चाहिए इस विषय पर प्राचीन भारत के राजशास्त्र के प्रमुख

१—उच्छिद्यमानो बलिनानिरुपाय प्रतिक्रियः

श्लोक ११२० अ० ४ शुक्रनीति ।।

कुलोद्भूवं सत्यमार्यमाश्रयेत बलोत्कटम ।
विजिगीषोस्तु साह्यार्थाः सुहृत्सम्बंधि बान्धवाः ।।

श्लोक ११२१ अ० ४ शुक्रनीति ।।

प्रदत्तभृतिकाह्यन्ये भूपाग्रंश प्रकल्पिताः ।
सेवाश्रयस्तु कथितो दुर्गाणि च महात्मिः ।।

श्लोक ११२२ अ० ४ शुक्रनीति ।।

२—बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिःकार्यसिद्धये ।
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः ।।

श्लोक १६७ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

३—सन्धिविग्रहोपदानं द्वैधीभाव ,।

वार्ता ११ अ० १ अधि० ७ अर्थशास्त्र ।।

४—द्वैधीभावः स्वसैन्यानां स्थापनं गुल्मगुल्मतः ।।

१०७० अ० ४ शुक्रनीति ।

५—यदि वा मन्येत ।
सन्धिनैकतः स्वकर्माणि प्रवर्तयिष्यामि विग्रहेणैकतः परकर्माण्युपहनिष्यामीतिद्वैधिभावने वृद्धिमातिष्ठेत् ।।

वार्ता ६२, ६३ अ० १ अधि० ७ अर्थशास्त्र ।।

आचार्यों ने अपने मत प्रकट किए हैं। इन मतों के अनुसार यह सम्बन्ध विभिन्न राज्यों के मण्डल के आधार पर आश्रित होने चाहिए। जिस सिद्धान्त के आधार पर इन मण्डलों का निर्माण होना चाहिए वह सिद्धान्त मण्डल-सिद्धान्त के नाम से सम्बोधित किया गया है। मनु ने भी मण्डल सिद्धान्त के महत्त्व को स्वीकार किया है। राजा को किन-किन विषयों पर अपने मंत्रियों केमध्य बैठ कर उनसे नित्य परामर्श लेना चाहिए इन विषयों का उल्लेख करते हुए मनु ने इन विषयों में मण्डल-प्रचार को भी सम्मिलित किया है।[1]

मण्डल की मूल प्रकृतियां—राज्यों की स्थिति एवं उनके पारस्परिक ससम्बन्ध के आधार पर प्राचीन भारत में राजशास्त्र के प्रमुख आचार्यों ने इन राज्यों को चार प्रकार का बतलाया है। यह चार प्रकार के राज्य शत्रु, मित्र, मध्यम और उदासीन नाम से सम्बोधित किए गए हैं। इन्हीं शत्रु, मित्र, मध्यम और उदासीन राज्यों के आधार पर मण्डल का निर्माण होता है। इसीलिए यह चार राज्य मण्डल की मूल प्रकृति माने गये हैं। मनु भी इन्हीं चार प्रकार के राज्यों को अधार मानकर इन्हें मण्डल की मूल प्रकृति के नाम से सम्बोधित करते हैं।[2] मनु ने मण्डल की इन चार मूल प्रकृतियों की व्याख्या नहीं की है। अतः यह स्पष्ट नहीं कहा जा सकता कि शत्रु, मित्र, मध्यम और उदासीन इन चारों प्रकार के राज्यों के वास्तविक स्वरूप के विषय में उनकी क्या धारणा रही होगी। परन्तु इन राज्यों की व्याख्या कौटिल्य ने स्पष्ट की है अतः शत्रु मित्र, मध्यम और उदासीन इन चारों प्रकार के राज्यों के वास्तविक स्वरूप को कौटिल्य के मत के अधार पर यहाँ दिया जाएगा।

(क) शत्रु राज्य—मानवधर्मशास्त्र में राजा का समीपवर्त्ती राज्य अरि राज्य बतलाया गया है, और अरि का मित्र भी अरि राजा माना गया है। किसी राज्य के चारों ओर उस राज्य की सीमा से सटे हुए जो राज्य स्थित होते हैं कौटिल्य इन राज्यों को उस राज्य के शत्रुराज्य मानते हैं।[3]

१—अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च ॥

श्लोक १५४ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम्।

उदासीनप्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः ॥

श्लोक १५५ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः ॥

श्लोक १५६ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

३—तस्य समन्ततो मण्डलीभूता भूम्यनन्तरा अरिप्रकृतिः ॥

वार्ता १७ अ० २ अधि० ६ अर्थशास्त्र ।

कौटिल्य ने शत्रु तीन प्रकार के बतलाए हैं जिन्हें वह प्रकृति शत्रु, सहज शत्रु और कृत्रिम शत्रु के नाम से सम्बोधित करते हैं। अपने राज्य के समीप वाला राज्य स्वभाव से ही शत्रु राज्य का राजा प्रकृतिशत्रु, अपने ही वंश में उत्पन्न दायभागी सहज शत्रु कहलाते हैं।[1] स्वयं विरोध करने या विरुद्ध होने से जो शत्रु बन जाता है वह कृत्रिम शत्रु कहलाता है।[2]

(ख) **मित्र राज्य**—राज्य की भूमि के उपरान्त शत्रुराज्य होता है उसके आगे शत्रुराज्य की सीमा पर स्थित राज्य मित्र राज्य कहलाता है और ऐसे राज्य का राजा मित्र राजा होता है। मित्र राजा भी तीन प्रकार के माने गए हैं। शत्रु राज्य के आगे वाला समीपी राजा प्रकृति मित्र होता है। माता-पिता से सम्बन्ध रखनेवाला (ममेरा वा फुफेरा भाई, मामा-फूफा आदि) सहज मित्र होता है।[3] धन और जीविका के लिए आश्रय ग्रहण करने वाला पुरुष कृत्रिम मित्र कहलाता है।[4]

(ग) **मध्यम राज्य**—शत्रु विजयी राजा के समीपवर्ती संघठित, असंघठित शत्रु मित्र की सहायता देने में समर्थ और असंघठित के निग्रह में समर्थ मध्यम राजा कहलाता है।[5] ऐसे राजा का राज्य मध्यम राज्य कहलाता है।

(घ) **उदासीन**—शत्रु, विजयी राजा और मध्यम राजा में इनकी प्रकृति से बाहर तथा मध्यम राजा से भी शक्तिशाली संहृत और असंहृत, शत्रु, विजयी और मध्यम राजा की सहायता करने में समर्थ असंघठित (पृथक-पृथक) के निग्रह में समर्थ राजा उदासीन राजा होता है।[6]

लघुमण्डल— विजयाभिलाषी राजा, राजा का मित्र, और राजा के मित्र का मित्रराजा इन तीन राज्यों का एक मण्डल बनता है। इन तीन राज्यों के

१— भूम्यनन्तरः प्रकृत्यमित्रः तुल्याभिजन सहजः ।:
वार्ता २५ अ० २ अधि० ६ अर्थशास्त्र ।।

२—विरुद्धो विरोधयिता वा कृत्रिमः ।।
वार्ता २६ अ० २ अधि० ६ अर्थशास्त्र ।।

३—भूम्येकान्तरं प्रकृतिमित्रं मातापितृ सम्बद्धं सहजम् ।
वार्ता २७ अ० २ अधि० ६ अर्थशास्त्र ।।

४—धनजीवितहेतो राश्रितं कृत्रिममिति ।।
वार्ता २८ अ० २ अधि० ६ अर्थशास्त्र ।।

५—अरिविजिगीष्वोर्भूम्यनन्तरः संहता संहतयोरनुग्रहसमर्थो निग्रहे चासंहतयोर्मध्यमः ।। वार्ता २९ अ० २ अधि० ६ अर्थशास्त्र ।।

६—अरि विजिगीषु मध्यानां वहिः प्रकृतिभ्यो बलवत्तरः संहतासंहताना मरिविजिगीषुमध्यमानामनुग्रहे समर्थो निग्रहे चासंहतानामुदासीनः ।।
वार्ता ३० अ० २ अधि० ६ अर्थशास्त्र ।।

तीन राजा तो मूल प्रकृति कहलाते हैं।[1] फिर इन तीन राज्यों में से प्रत्येक राज्य की अन्य पांच प्रकृतियाँ (अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, और दण्ड) यह सब मिलकर अट्टारह प्रक्रियाँ (प्रत्येक राज्य की छः प्रकृतियाँ राजा, अमात्य, जनपद, दुर्ग कोष और दण्ड) होती हैं। इस प्रकार इन अठारह प्रकृतियों से एक मण्डल का निर्माण हो जाता है[2] इसी प्रकार अरिमण्डल, मध्यम मण्डल, और उदासीन, मण्डल पृथक-पृथक मण्डल बनते हैं।[3] इस प्रकार प्रत्येक मण्डल मे तीन राजप्रकृति, और पन्द्रह द्रव्य प्रकृति मानी गयी हैं।

बृहद्मण्डल—उपर्युक्त अरिमण्डल, मित्रमण्डल, मध्यममण्डल, और उदासीन-मण्डल इन चारों मण्डलों के संघठन से बृहद् मण्डल का निर्माण मानागया है। मनु यह मण्डल बहत्तर प्रकृतियों से संयुक्त मानते हैं जो इस प्रकार हैं—अरि, मित्र, मध्यम और उदासीन राज्यों के चार राजा जो मूल प्रकृति कहलाते है। इन चार प्रकार के राजाओं के अलग-अलग मित्रराजा एवं मित्र के मित्र राजा मिलकर बारह राजा हुए जो इस बृहद्मण्डल की बारह राजप्रकृति कहलाती हैं। इस के अतिरिक्त इन में से प्रत्येक राज्य को पाँच और प्रकृतियाँ अमात्य राष्ट्र,दुर्ग, कोष और दण्ड होती हैं। इस प्रकार इस मण्डल के बारह राज्यों की साठि और प्रकृतियाँ होती हैं। इन अन्य साठि प्रकृतियों और बारह राजप्रकृतियों को मिलाकर बृहद्मण्डल बनता है। जिसमें कुल बहत्तर प्रकृति होती है।[4]

कौटिल्य ने भी इन्ही बहत्तर प्रकृतियों का बृहद्मण्डल माना है। इस बृहद्मण्डल में वह बारह राजप्रकृति (उपर्युक्त बारह राज्यों के बारह राजा) और साठि द्रव्य प्रकृति मानते हैं और यह समस्त प्रकृति बहत्तर प्रकृतियों का बृहद्राजमण्डल उन्होंने भी माना है।[5]

१—विजिगीषुर्मित्रं मित्रमित्रं वास्य प्रकृतयस्तिस्त्रः ॥
वार्ता ३२ अ० २ अधि० ६ अर्थशास्त्र ॥

२—ताः पञ्चभिरमात्यजनपददुर्गकोषदण्ड प्रकृतिभिरेकैकशः संयुक्ता मण्डलमष्टादशकं भवति ॥ वार्ता ३३ अ० २ अधि० ६ अर्थशास्त्र ।

३—अनेन मण्डलपृथकत्वं व्याख्यातमरिमध्यमोदासीनानाम् ॥
वार्ता ३४ अ० २ अधि० ६ अर्थशास्त्र ॥

४—एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः ।
अष्टौ चान्याः समाख्याता द्वादशैव तु ताः स्मृताः ॥
श्लोक १५६ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥
अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थ दण्डाख्याः पञ्च चापराः ।
प्रत्येकं कथिता ह्येताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः ॥
श्लोक १५७ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

५—द्वादश राज प्रकृतयः षष्टिर्द्रव्य प्रकृतयः ।
संक्षेपेण द्विसप्तति ॥ वार्ता ३६ से ३८ अ० २ अधि० ६ अर्थशास्त्र ।

काल—वर्ष के किसी भी महीने में युद्ध की घोषणा की जा सकती है। प्राचीन भारत के राजशास्त्र-प्रणेताओं ने इस सिद्धान्त का विरोध किया है। उन्होंने युद्ध के लिए वर्ष के कुछ महीने नियत किए हैं। भारत के जलवायु एवं भूमि की उपज के आधार पर युद्ध घोषित किए जाने के यह महीने नियत किए गए हैं। राजा को मार्गशीष, फाल्गुन, अथवा चैत्रमास में युद्ध करना चाहिए ऐसा मनु का मत है। इस विषय में मनु यह व्यवस्था देते हैं—राजा की जैसी सेना हो उसके अनुसार शुभमार्गशीर्ष अथवा फाल्गुन वा चैत्र मास में उस को (युद्ध यात्रा) करनी चाहिए।[1]

कौटिल्य ने भी वर्ष के कतिपय मास युद्ध संचालन हेतु श्रेष्ठ माने हैं। वह मार्गशीर्ष, चैत्र और ज्येष्ठ मास को इस कार्य के लिए उचित काल समझते हैं। मार्गशीर्ष मास में शत्रु पर आक्रमण करना चाहिए इस सिद्धान्त की स्थापना करने के हेतु वह इस प्रकार की युक्ति देते हैं—इस समय (मार्गशीर्ष मास में) शत्रु की पुरानी खाद्य सामग्री प्रायः समाप्त हो जाती है और नवीन संग्रहीत नहीं हो पाती है। इस समय तक दुर्गों का जीर्णोद्धार भी नहीं हो पाता है। न कोई नया मित्र ही बन पाता है। हरा भरा धान्य भी ज्यों का त्यों खेतों में खड़ा होता है। हेमन्त ऋतु के अन्नोत्पत्ति के नाश के लिए भी यह आक्रमण उत्तम होता है।[2] चैत्र मास में शत्रु पर आक्रमण किए जाने के निमित्त अर्थशास्त्रमें यह हेतु दिए गए हैं—वसन्त ऋतु में उत्पन्न होनेवाले अन्नको नष्ट करने के लिए चैत्रमास का आक्रमण उत्तम माना गया है।[3] इसी प्रकार ज्येष्ठ मास में आक्रमण होना चाहिए इस सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कौटिल्य इस प्रकार व्यवस्था देते हैं—इस समय (ज्येष्ठ मास में) शत्रु तृण, काष्ठ, जल हीन और दुर्गों के जीर्णोद्धार करने में असमर्थ होता है इसलिए वासन्तकी शस्य और वर्षा में उत्पन्न होने वाले अन्न के नाश के लिए ज्येष्ठ मास का आक्रमण उत्तम समझा गया है।[4] इस के अतिरिक्त देश के अनुसार भी युद्ध के निमित्त काल

१—मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपतिः।
फाल्गुनं वाऽथ चैत्रं वामासौ प्रति यथाबलम्॥
श्लोक १८२ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

२—क्षीणपुराणभक्तयमगृहीतनवभक्तमसंस्कृतदुर्गममित्रं वार्षिकं चास्य सस्यं, हैमनं चुष्टिमुपहन्तु मार्गशीर्षी यात्रां ययात्॥
वार्ता ३४ अ० १ अधि० ९ अर्थशास्त्र॥

३—हैमनं चास्य सस्यं वासन्तिकं च मुष्टिमुपहन्तुं चैत्रीं यात्रां यायात्॥
वार्ता ३५ अ० १ अधि० ९ अर्थशास्त्र॥

४—क्षीणतृणकाष्ठोदकमसंस्कृतदुर्गममित्रं वासन्तिकं चास्य सस्यं वार्षिकीं वा मुष्टिमुपहन्तुं ज्येष्ठामूलीयां यात्रां यायात्॥
वार्ता ३६ अ० १ अधि० ९ अर्थशास्त्र॥

का विधान किया गया है। इस विषय में कौटिल्य इस प्रकार अपना मत प्रकट करते हैं---अत्यन्त उष्ण और अल्प घास, इन्धन और जल वाले प्रदेश पर हेमन्त ऋतु में आक्रमण करना चाहिए।[१] हिमाच्छादित और वर्षा वाले, अगाध जल से भरे रहने वाले, घास और वृक्षों के वन से गहन देश में ग्रीष्म ऋतु में आक्रमण करना चाहिए।[२] अपनी सेना के पराक्रम दिखाने के योग्य और शत्रु सेना के अनुपयोगी काल हो तो वर्षा काल में भी आक्रमण करदेना चाहिए।[३] यदि युद्ध दीर्घ काल में समाप्त होने की सम्भावना हो तो उस का आरम्भ मार्गशीर्ष और पौष मास के मध्य में करना चाहिए।[४] मध्यकाल में समाप्त होने वाले युद्ध कोचैत्र और वैशाख के मध्य में और जिस युद्ध के अल्प समय में समाप्त हो जाने की सम्भावना है उस युद्धको ज्येष्ठ और आषाढ़ के मध्य में भी आरम्भ किया जा सकता हैं।[५]

शुक्र ने भी युद्ध काल को निर्धारित किया है। उन्होंने शरद, हेमन्त और शिशिर ऋतुओं में युद्ध घोषित किया जाना उत्तम माना है।[६] वसन्त ऋतु का समय मध्यम काल और ग्रीष्म ऋतु का समय अधम काल माना गया है।[७] उन्होंने वर्षा ऋतु युद्ध के लिए सर्वथा वर्जित काल माना हैं। उनके मतानुसार वर्षा ऋतु सन्धि करने का काल होता है।[८]

इस प्रकार मनु ने युद्ध घोषित करने का जो काल निर्धारित किया है उसका समर्थन कतिपय विशेषताओं के साथ कौटिल्य और शुक्र ने भी किया

१—अत्युष्णमल्पयवसेन्धनोदकं वा देशं हेमन्ते यायात्॥
वार्ता ३७ अ० १ अधि० ९ अर्थशास्त्र॥

२—तुषारदुर्दिनमगाधनिम्नप्रायं गहनतृणवृक्षं वा देशं ग्रीष्मे यायात्॥
वार्ता ३८ अ० १ अधि० ९ अर्थशास्त्र॥

३—स्वसैन्यव्यायामयोग्यं परस्यायोग्यं वर्षति यायात्॥
वार्ता ३९ अ० १ अधि० ९ अर्थशास्त्र॥

४—मार्गशीर्षीं तैषीं चान्तरेण दीर्घकालां यात्रां यायात्॥
वार्ता ४० अ० १ अधि० ९ अर्थशास्त्र॥

५—चैत्रीं वैशाखीं चान्तरेण मध्यमकालां, ज्येष्ठामूलीयामाषाढीं चान्तरेण ह्रस्वकालामुपोषिष्यन्॥
वार्ता ४१ अ० १ अधि० ९ अर्थशास्त्र॥

६—शरद्धेमन्त शिशिरकालो युद्धेषुचोत्तमः॥
श्लोक १०५६ अ० ४ शुक्रनीति॥

७—अधमो ग्रीष्मः स्मृतः सदा॥
श्लोक १०५७ अ० ४ शुक्रनीति॥

८—वर्षासु न प्रशंसन्ति युद्धं सामस्मृतं तदा॥
श्लोक १०५७ अ० ४ शुक्रनीति॥

इसके अतिरिक्त मनु ने विशेष परिस्थितियों में इस निर्धारित नियम के अतिक्रमण किए जाने का भी आदेश दिया है। इस विषय में वह आदेश देते हैं कि उपर्युक्त निर्धारित काल के अतिरिक्त दूसरे कालों में भी जब राजा अपनी विजय निश्चित समझता है अथवा जब शत्रु विषय में फँसा हो युद्ध किया जा सकता है[1]। जब राजा अपनी सेना को हर्षयुक्त और पुष्ट देखता है और शत्रुसेना निर्बल दिखलायी पड़ती है ऐसे काल में युद्ध प्रारम्भ किया जा सकता है[2]। इस प्रकार मनु ने ऐसी परिस्थितियों मे निर्धारित काल के अतिक्रमण करने का विधान किया है। कौटिल्य और शुक्र ने भी विशेष परिस्थितियों में इन नियमों के अतिक्रमण करने की अनुमति दी है।

सेना का गमन--मनु ने युद्ध के लिए सेना के प्रस्थान करने के विषय में जो वर्णन दिया है वह इस प्रकार है—अपने मूल (पुर और राष्ट्र) की सम्यक प्रकार से रक्षा की व्यवस्था कर और यात्रा (आक्रमण) सम्बन्धी समस्त सामग्री का समुचित प्रबन्ध कर गुप्त चरों को मार्ग में भली प्रकार नियत कर तीन प्रकार के मार्गों (सम, विषय और जलीय) और छः प्रकार का बल (रथ, अश्व, हस्ति, नाग, पैदल, और भारवाहक) लेकर संग्रामकल्प की विधि से धीरे-धीरे शत्रु के पुर की ओर गमन करना चाहिए।[3] मनु का मत है कि समयानुसार एवं मार्ग के प्रकार को देखकर व्यूह निर्माण कर सेना का सचालन करना चाहिए। इस प्रकार के गमन में दण्डव्यूह, शकटव्यूह, वराहव्यूह मकरव्यूह, सूचीव्यूह अथवा गरुड़व्यूह में से किसी भी व्यूह का आश्रय लेकर सेना का गमन करना चाहिए।[4] परन्तु राजा को सदैव पद्मव्यूह में रहना चाहिए।[5]

१—अन्येष्वपि तु कालेषु यदापश्येद्ध्रुवं जयम्।
तदा यायाद्विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः।।
श्लोक १८३ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

२—यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलम् स्वकम्।
परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति ।।
श्लोक १७१ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

३—कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि।
उपगृह्यास्पदं चैव चारान्सम्यग्विधाय च ।।
श्लोक १८४ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र
संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड् विधं च बलं स्वकं।
सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः ।।
श्लोक १८५ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

४—दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा।
वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा ।।
श्लोक १८७ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

५—पद्मेन चैव व्यूहेननिविशेत सदा स्वयम् ।।
श्लोक १८८ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।।

युद्ध संचालन—रण स्थल में सेना को किस प्रकार संघठित कर युद्ध करना चाहिए इस विषय में मनु ने इस प्रकार अपने विचार प्रकट किए हैं— राजा को रणस्थल में सेना को टोलियों अथवा जत्थों में विभाजित कर देना चाहिए। इन जत्थों के अलग-अलग नायकों को नियुक्त कर उन्हें विभिन्न दिशाओं में स्थापित कर देना चाहिए। यह जत्था या टोली-नायक आप्त पुरुष होने चाहिए, और इन टोलियों के अलग-अलग नाम रख देने चाहिए जिससे उन्हें सुविधा पूर्वक सम्बोधित किया जा सके और युद्ध के लिए आदेश दिये जा सकें।[१] यदि सेना अल्प हो तो उन्हें संहत होकर युद्ध करना चाहिए। यदि विशाल सेना हो तो उन्हें फैल-फुटक कर युद्ध करने का आदेश देना चाहिए। मनु व्यूहों का आश्रय लेकर युद्ध करना हितकर मानते हैं। वह इसीलिए आदेश देते हैं कि समय और परिस्थिति के अनुसार सूची या वज्र व्यूह आदि बना कर रणस्थल में युद्ध करना चाहिए।[२] समभूमि में रथारोहियों और अश्वारोहियों से, पानी के स्थलों पर नागारोहियों अथवा नौकारोहियों से और वृक्षो, झाड़ियों एवं कंटक लताओं वाले स्थलों में धनुषधारियों एवं खग-चर्म धारण करने वाले सैनिकों को युद्ध में संलग्न करना चाहिए।[३]

मनु ने अपने समय के कुछ ऐसे भूमागों के नाम भी दिए हैं जहाँ के सैनिक विशेष कर वीर पुरुष माने जाते थे। यह भू-भाग कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाञ्चाल और शूरसेन माने गए हैं। मनु यह आदेश देते है कि इन भूभागों में उत्पन्न योद्धाओं को सेना के अग्र भाग में रखना चाहिए।[४] इन योद्धाओं को उत्साहित करते रहना चाहिए। इन की हर समय जाँच करते रहना चाहिए और इनकी चेष्टाओं से परिस्थिति का बोध करते रहना चाहिए।[५] इस क्रम से राजा को युद्ध संचालन करना चाहिए ऐसा मनु का मत है।

१—गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान् कृतसंज्ञान्समन्ततः।
स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविकारिणः॥
क१९० अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

२—संहतान्योधयेदल्पेदल्पान्कामं विस्तारयेद्बहून्।
सूच्यावज्रेण चैवैतान्व्यूहेन व्यूह्य योधयेत्॥
श्लोक १९१ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

३—स्यन्दनाश्वैःसमे युद्धयेदनूपेनौद्विपैस्तथा।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले॥
श्लोक १९२ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

४—कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पञ्चालान्शूरसेनजान्।
दीर्घांल्लघूंश्चैव नरानग्रानीकेषु योजयेत्॥
श्लोक १९३ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

५—प्रहर्षहेद् बलं व्यूह्य तांश्च सम्यक् परीक्षयेत्।
चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन्योधयतामपि॥
श्लोक१९४ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

कर्षण एवं उत्पीडन—शत्रु को निर्बल बनाने के लिए कर्षण एवं उत्पीडन नीति का आश्रय लेना चाहिए ऐसा मनु का मत है। कर्षण की परिभाषा करते हुए कामन्दक ने अन्य आचार्यों के इस विषय में मत देते हुए बतलाया है कि राजा को कोष और दण्ड से रहित कर देना, प्रधान मंत्री का वध करवा देना आदि को आचार्यों ने कर्षण माना है। [1] मनु शत्रु के राष्ट्र को दुर्बल बनाने के लिए जिससे कि राजा को युद्ध काल में पर्याप्त सहायता न मिल सके इस प्रकार व्यवस्था देते हैं—शत्रु के राष्ट्र को घेरकर उसका उत्पीडन करना चाहिए। शत्रु के घास, अन्न, जल और ईंधन आदि को नष्ट कर देना चाहिए। [2] राष्ट्र के जलाशयों, नगर के प्राकारों (city-walls) एवं परिखाओं (Ditches) को भी नष्ट कर देना चाहिए। रात्रि के समय में शत्रु-राष्ट्र को विशेष कर त्रासित करना चाहिए। [3]

धर्मयुद्ध के कतिपय नियम—प्राचीन भारत के राजशास्त्र के प्रणेताओं धर्मयुद्ध का वर्णन करते हुए उसके नियमों का भी उल्लेख किया है। मानव-धर्मशास्त्र में भी धर्मयुद्ध के कतिपय नियमों का उल्लेख है। मनु युद्ध को वीरता प्रदर्शन सम्बन्धी क्रिया मानते हैं। रणस्थल में जब कि योद्धा गण पारस्परिक युद्ध में संलग्न हों छल-कपट अथवा धूर्तता का आश्रय लेकर अपने विपक्षी योद्धा का बध कर दिया जाए मनु ऐसें कार्य की प्रशंसा नहीं करते। मनु ने कुछ ऐसी परिस्थितियों का उल्लेख किया है जिन परिस्थितियों में होने से मनुष्य का युद्ध स्थल में वध नहीं किया जाना चाहिए, यदि इन परिस्थितियों की विवेचना गम्भीरता पूर्वक की जाए तो ऐसा प्रकट होता है कि इन परिस्थितियों के निर्धारित करते समय मनु ने कुछ सिद्धान्तों को अपने समक्ष रखा है। इन सिद्धान्तों का यहाँ पर संक्षेप में वर्णन किया जाएगा।

मनु ने धर्मयुद्ध के नियमों के निर्माण करते समय जिन सिद्धान्तों का आश्रय लिया है उनमें से एक सिद्धान्त यह था कि समर्थ योद्धा को समर्थ योद्धा से ही युद्ध करना न्यायसंगत होगा। आयुध अथवा वाहन के अभाव के

१—रेचनं कोशदण्डाभ्यां महामात्य वधस्तथा।
एतत्कर्षणमित्याहुराचार्याः पीडनम् परम्॥
श्लोक ५८ सर्ग ८ कामन्दकी नीतिसार॥

२—उपरुध्यारि आसीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत्।
दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम्॥
श्लोक १९५ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

३—भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा।
समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा॥
श्लोक १९६ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

कारण जो व्यक्ति युद्ध करने में किसी प्रकार असमर्थ है ऐसे व्यक्ति की असमर्थता से लाभ उठा कर उस का बध कर देना धर्म युद्ध के विरुद्ध होगा। इस सिद्धान्त की स्थापना करने के निमित्त मनु ने कुछ उदाहरण दिए है जो इस प्रकार है—भूमि पर स्थित [वाहनरहित] व्यक्ति का वध नहीं करना चाहिए।[१] इसी प्रकार आयुध रहित अथवा टूटे हुए आयुध वाले, भीत तथा व्रण युक्त पुरुष का रण-स्थल में वध नहीं किया जाना चाहिए।[२] वह पुरुष जो कवच रहित है या नग्न है उसका भी बध नहीं होना चाहिए।[३] इस विषय में दूसरा सिद्धान्त यह था कि अपने शत्रु या विपक्षी को भली प्रकार सचेत करके युद्ध करना चाहिए, जो व्यक्ति असावधान या अचेत है उससे युद्ध नहीं करना चाहिए। जो व्यक्ति रण स्थल में अचेत हो एवं दूसरे से युद्ध में संलग्न होने के कारण असावधान हो उस का वध किया जाना धर्मयुद्ध के नियमों का भंग करना समझा जाएगा। इस सिद्धान्त का समर्थन करते हुए मनु यह आदेश देते है कि सोते हुए, दूसरे से युद्ध में संलग्न, अथवा भूमि पर बैठे हुए पुरुष का वध नहीं करना चाहिए।[४]

धर्म युद्ध के नियमों का तीसरा सिद्धान्त यह था कि जो व्यक्ति युद्ध नहीं करता है उस का वध नहीं करना चाहिए। इस सिद्धान्त का समर्थन करते हुए मनु यह आदेश देते हैं कि जो व्यक्ति युद्ध नहीं कर रहा है केवल दर्शक है उस का वध तहीं करना चाहिए।[५] धर्मयुद्ध के नियमों का चौथा सिद्धान्त जिसका उल्लेख मनु ने संकेत मात्र में किया है यह है कि जिस व्यक्ति ने रण-स्थल में अपनी पराजय स्वीकार कर ली है और विजेता योद्धा की शरण ग्रहण कर ली है तो ऐसा व्यक्ति अवध्य माना गया है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए मनु इस प्रकार की व्यवस्था देते हैं—रण स्थल में हाथ जोड़े हुए, सिर के बाल खोले हुए, "मैं तुम्हारा हूँ" ऐसा कहते हुए का वध नहीं करना चाहिए।[६]

१—न च हन्यात्स्थलारूढं ॥ श्लोक ९१ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—न निरायुधं ॥ श्लोक ९२ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम् ॥

श्लोक ९३ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

३—विसन्नाहं न नग्नं ॥श्लोक ९२ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

४—नसुप्तं××न परेण समागतम् ॥ श्लोक ९२अ० ७मानवधर्मशास्त्र ॥

नासीनं ॥ श्लोक ९१ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

५—नायुध्यमानं पश्यन्तं ॥श्लोक ९२ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

६—न कृताञ्जलिम् ।

न मुक्तकेशं× × न तवास्मीति वादिनम् ॥

श्लोक ९१ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ।

धर्मयुद्ध के नियमों का पाँचवाँ सिद्धान्त यह था कि पुरुषत्वहीन व्यक्ति से युद्ध नही किया जाता था। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए रण-स्थल में नपुंसक के बध किए जाने का निषेध किया गया है।[१] इन नियमों का छठवाँ सिद्धान्त यह था कि जो व्यक्ति युद्ध करना नहीं चाहता, युद्ध से भयभीत हो कर रण से भागना चाहता है ऐसे व्यक्ति का वध नही किया जाना चहिए।[२]

इन सिद्धान्तों के अतिरिक्त मनु इससिद्धान्त का भी प्रतिपादन करते हैं कि शत्रु का वध ऐसे आयुधों के द्वारा नहीं करना चाहिए जिन के प्रयोग करने से मनुष्य को विशेष पीड़ा पहुँचती है एवं जिनका प्रयोग क्रूरता तथा नृशंसता प्रदर्शन हेतु किया जाए। इसी सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर उन्हों ने कूट आयुधों, एवं कर्णी [जो वाणभिदकर कठिनायी से निकाले जा सकें], विष-बुझे तथा प्रज्वलित अग्नि युक्त अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग का सर्वथा निषेध किया है।[३] इस प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग से वीरता का विशेष प्रदर्शन नहीं हो पाता वरन् क्रूरता एवं नृशंसता का ही प्रदर्शन होता है।

इस प्रकार मनु युद्ध में छल-कपट एवं धूर्तता का आश्रय लेकर शत्रु का क्रूरता एवं निशंसता पूर्ण वध करना उचित नहीं समझते। वीरता का प्रदर्शन करते हुए नियमानुसार शत्रु का पराजय करना मनु के मतानुसार धर्म युद्ध माना जाएगा।

युद्ध द्वारा प्राप्त शत्रु सामग्री के वितरण सम्बन्धी नियम—मनु ने युद्ध में जीती गयी शत्रुसामग्री के वितरण सम्बन्धी नियमों का भी वर्णन संक्षेप में किया है। इस वर्णन से यह विदित होता है कि युद्ध द्वारा प्राप्त शत्रुसामग्री के वितरण किये जाने में कतिपय सिद्धान्तों को अपनाया गया है। इन सिद्धांन्तों में पहला सिद्धान्त यह था कि व्यक्ति युद्ध में जिस व्यक्ति को जीत लेता है उस (पराजित) व्यक्ति की जो सामग्री अथवा द्रव्य विजेता के अधिकार में आ जाएँ वह उसी (विजेता) की हो जाते हैं। परन्तु इन द्रव्यों या सामग्री में जो द्रव्य अथवा सामग्री विशेष मूल्य वा महत्व की हो। (रत्न, मणि, रजत, स्वर्ण, हाथी, अश्व वा अन्य मूल्यवान् सामग्री) वह राजा को प्रदान की जानी चाहिए। साधारण सामग्री अथवा द्रव्यों पर उस व्यक्ति का अधिकार माना गया है जो उन्हें विजय द्वारा प्राप्त करता है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मनु ने इन शब्दों में किया है—जो व्यक्ति रण-स्थल से पराङ्मुख होकर भाग जाता है अथवा

१—न क्लीवं ॥ श्लोक ९१ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥
श्लोक ९३ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

३—न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणेरिपून् ।
न कीर्णभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः ॥
श्लोक ९० अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

जो रणस्थल में वीर गति को प्राप्त करता है उसके रथ, घोड़े, हाथी, छत्र, धन-धान्य, पशु, स्त्रियाँ, घृत, तैलादि एवं अन्य समस्त द्रव्य (इनमें से) जो जिसको विजय कर लेता है वह उसके हो जाते हैं।[१] (लूट के माल में से) उत्तम धन और वाहनादि राजा को मिलने चाहिए ऐसा वेद से सुना है।[२] इस प्रकार अलग-अलग योद्धाओं द्वारा जीत कर प्राप्त किए गए द्रव्यों अथवा सामग्री पर विजेता योद्धा का अधिकार माना गया है, परन्तु उसमें से विशेष मूल्यवान अथवा महत्त्व वाले द्रव्य या सामग्री को राजा के निमित्त प्रदान कर देना चाहिए ऐसी व्यवस्था दी गयी है।

जब कतिपय योद्धाओं ने मिलकर युद्ध में शत्रु की सामग्री या द्रव्यों को प्राप्त किया हो ऐसी दशा में राजा के समक्ष उसे प्रस्तुत करना चाहिए राजा को उसमें से विशेष-मूल्य अथवा विशेष महत्त्व के पदार्थ या सामग्री को राज-कोष के निमित्त ग्रहण कर लेना चाहिए और फिर अवशेष सामग्री अथवा द्रव्य को उन समस्त योद्धाओं में वितरण कर देना चाहिए।[३]

इस प्रकार मनु ने संक्षेप में यह आदेश दिया है कि लूट के माल में जो विशेष मूल्य एवं महत्त्व वाले पदार्थ या सामग्री हो उनको राजा के अधिकार में रहना चाहिए और साधारण सामग्री या पदार्थ योद्धाओं को भोगने का अधिकार दिया गया है।

पराजित राजा के प्रति व्यवहार—पराजित राजा के प्रति विजयी राजा का किस प्रकार व्यवहार होना चाहिए, एवं विजित राजा को किस प्रकार आचरण धारण करना चाहिए इस विषय में मानवधर्मशास्त्र में कुछ प्रकाश डाला गया है। मानवधर्मशास्त्र में इस विषय पर इस प्रकार विचार प्रकट किये गए हैं—विजयी राजा को शत्रु के राज्य को जीतकर वहाँ देव और धार्मिक ब्राह्मणों का पूजन कर वहाँ की प्रजा को परिहार (दीन दुखियों को धन से सहायता) देनी चाहिए और " राज्य में समस्त प्रजा को अभय दान दे दिया गया" इस प्रकार की घोषणा करवा देनी चाहिए।[४] प्रजा के मन के भावों

१—रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून्स्त्रियः।
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत् ॥

श्लोक ९६ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः ॥

श्लोक ९७ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

३—राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम् ॥

श्लोक ९७ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

४—जित्वा सम्पूजयेद्देवान्ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान्।
प्रदद्यात्परिहारांश्च ख्यापयेदभयानि च ॥

श्लोक २०१ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

को जान कर उस राज्य में पुराने राजा के वंश में उत्पन्न किसी व्यक्ति को राजा बनाना चाहिए। उस राज्य में शासन-व्यवस्था स्थापित कर यह आदेश करना चाहिए कि अमुक कार्य इस प्रकार करना चाहिए अमुक इस प्रकार इत्यादि। उस राज्य में प्रचलित धर्मो (परम्पराओं, प्रथाओं आदि) को मान्यता देनी चाहिए, और वहाँ के प्रधान व्यक्यिों का धन से सत्कार करना चाहिए।[१] मित्रता, सुवर्ण, और भूमि यह तीन प्रकार का यात्रा (आक्रमण) का फल देखते हुए पराजित राजा के साथ सन्धि कर उस राज्य से लौट आना चाहिए[२] मानवधर्मशास्त्र में मित्रता, सुर्वण, और भूमि इन तीनों में मित्रता को श्रेष्ठ माना गया है। अतः विजेता राजा को यह आदेश दिया गया है कि विजयी राजा को पराजित राजा को मित्र बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।[३] इसीलिए मानवधर्मशास्त्र में यह व्यवस्था दी गयी है कि राजा की उन्नति सुवर्ण और भूमि से इतनी नहीं होती जितनी कि भविष्य में सहायता देने वाले दुर्बल राजा से भी होने की सम्भावना होती है।[४]

इस प्रकार मानवधर्मशास्त्र में इस सिद्धान्त पर महत्त्व दिया गया है कि पराजित राजा के राज्य का अपहरण नहीं किया जाना चाहिए, वरन उसकी शक्ति को सीमित कर उन को अपना मित्र बना लेने में ही विजयी और विजित दोनों राज्यों का कल्याण माना गया है।

१—सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन चिकीर्षितम्।
स्थापयेत्तत्रतद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम्॥
श्लोक २०२ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

२—प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान्यथोदितान्।
रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह॥
श्लोक २०३ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

३—सह वापि व्रजेद्युक्तः सन्धिं कृत्वा प्रयत्नतः।
मित्रं हिरण्यं भूमिं वा संपश्यंस्त्रिविधं फलम्॥
श्लोक २०६ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥

४—हिरण्य भूमि संप्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते।
यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम्॥
श्लोक २०८ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र॥



पुस्तक–सूची

(क) वैदक-साहित्य

१—ऋग्वेद संहिता —सातवलेकर, औंध कार्यालय, सतारा।

२—ऋग्वेद संहिया —सायणाचार्य भाष्य सहित एफ० मोक्ष मूलर द्वारा संपादित द्वितीय संस्करण।

३—ऋग्वेद संहिता —अंगरेजी अनुवाद, आर० टी० एच० ग्रिफिथ, बनारस।

४—ऋग्वेद संहिता —हिन्दी अनुवाद सहित, जयदेव शर्मा विद्यालंकार, अजमेर।

५—सामवेद संहिता —सातवलेकर, औंध कार्यालय, सतारा।

६—सामवेद संहिता —अंगरेजी अनुवाद, आर० टी० एच० ग्रिफिथ, बनारस

७—सामवेद संहिता —हिन्दी अनुवाद सहित, जयदेव शर्मा विद्यालंकार अजमेर।

८—यजुर्वेद संहिता (शुवल) —सातवलेकर, औंध कर्यालय, सतारा।

९—यजुर्वेद संहिता (शुक्ल) —महीधरभाष्य सहित, वेबर महोदय द्वारा सम्पादित, लन्दन।

१०—यजुर्वेद संहिता (शुक्ल) —हिन्दी अनुवाद सहित, वैदिक संस्थान, मथुरा।

११—यजुर्वेद संहिता (शुक्ल) —हिन्दी अनुवाद सहित, जयदेवशर्मा, विद्यालंकार, अजमेर।

१२—यजुर्वेद संहिता (शुक्ल) —अंगरेजी अनुवाद, आर० टी० एच० ग्रिफिथ, बनारस।

१३—अथर्ववेद संहिता —सातवलेकर, औंध कार्यालय, सतारा।

१४—अथर्ववेद संहिता —सायणाचार्य भाष्य सहित, बम्बई।

१५—अथर्ववेद संहिता —हिन्दी अनुवाद सहित, जयदेव शर्मा, विद्यालंकार अजमेर।

१६—एतरेय ब्राह्मण —सायणाचार्य भाष्य सहित, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना।

१७—तैत्तिरीय आरण्यक —सायणाचार्य भाष्य सहित, आनन्दाश्रम, मुद्रणालय, पूना।

१८—शतपथ ब्राह्मण —सायणाचार्य भाष्य सहित, रायल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता।

१९—बृहदारण्यक उपनिषद् —हिन्दी अनुवाद सहित, गीताप्रेस, गोरखपुर ।
२०—छान्दोग्य उपनिषद् —नित्यानन्द (मिताक्षरी टीका सहित) आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना ।

(ख) रामायण और महाभारत

२१—श्रीमद् वाल्मीकीय रामायण —गोविन्दराज भाष्य सहित, टी० आर० कृष्णाचार्य तथा टी० आर० व्यासाचार्य ।
२२—श्रीमद् वाल्मीकीय रामायण —गोविन्दराज टीका सहित, श्रीनिवास शास्त्री ।
२३—श्रीमद् वाल्मीकीय रामायण —हिन्दी टीका सहित, साहित्याचार्य पं० चन्द्रशेखर शास्त्री, सस्ता साहित्य पुस्तक माला कार्यालय, बनारस ।
२४—महाभारत —पी० पी० एस० शास्त्री ।
२५—श्रीमन्महाभारत —नीलकण्ठी टीका सहित, चित्रशाला कार्यालय, पूना ।
२६—श्रीमन्महाभारत —अंगरेजी अनुवाद, पी० सी० रे०, कलकत्ता ।
२७—श्रीमन्महाभारत —हिन्दी अनुवाद सहित (आदि पर्व से शान्ति पर्व तक) पं० गंगाप्रसाद शास्त्री, महाभारत प्रकाशन मण्डल, दिल्ली ।

(ग) अर्थशास्त्र

२८—कौटलीय अर्थ शास्त्र —अंगरेजी अनुवाद, श्याम शास्त्री ।
२९—कौटलीय अर्थशास्त्र —संस्कृत टीका सहित, गणपति शास्त्री ।
३०—कौटलीय अर्थशास्त्र —हिन्दी अनुवाद सहित, गंगा प्रसाद शास्त्री ।

(घ) मानवधर्मशास्त्र

३१—मनुस्मृति —निर्णय सागर प्रेस, बम्बई ।
३२—मनुस्मृति —गोविन्द राज कृत मनुटीका ।
३३—मनुस्मृति —नन्दन कृत मनुस्मृतिव्याख्या ।
३४—मनुस्मृति —मेधातिथि कृत मनुभाष्य ।
३५—मनुस्मृति —नारायणसर्वज्ञकृत मन्वर्थविवृत्तिः ।
३६—मनुटीका संग्रह —कलकत्ता ।
३७—मनुस्मृति —मन्वर्थमुक्तावली सहित, कुल्लूक भट्ट ।
३८—मनुस्मृति —मेधातिथि भाष्य सहित, अंग्रेजी अनुवाद, गंगा नाथ झा ।
३९—मनुस्मृति —हिन्दी अनुवाद सहित, श्री पं० तुलसीराम ।

(ङ) पुराण

४०—श्रीमदभागवत पुराण —गीता प्रेस, गोरखपुर ।

४१—विष्णु पुराण —गीता प्रेस, गोरखपुर ।
४२—वायु पुराण —श्री वैंकटेश्वर छापाखाना, बम्बई ।
४३—मार्कण्डेय पुराण —श्री वैंकटेश्वर छापाखाना, बम्बई ।

(च) नीतिशास्त्र

४४—शुक्रनीति —पं० जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सम्पादित कलकत्ता ।
४५—शुक्रनीति —अंगरेजी अनुवाद, विनय कुमार सरमार ।
४६—शुक्रनीति —हिन्दू जगत कार्यालय, शामली मुजफ्फरपुर ।
४७—कामन्दकीय नीतिसार —पं० जगन्मंगलकृत पाण्डुलिपि ।
४८—कामन्दकीय नीतिसार —श्री बैंकटेश्वर छापाखाना, बम्बई ।
४९—कामन्दकीय नीतिसार —अंगरेजी अनुवाद, मनमथदत्त, एम० ए०, एम० आर० ए० सी० ।

(छ) अन्य ग्रन्थ

५०—लाज आफ मनु —जी० बूलर ।
५१—आर्डिनेन्सेज आफ् मनु —बर्न्यल ऐण्ड हार्पकिंस ।
५२—मनु और याज्ञवल्क्य —काशी प्रसाद जायसवाल ।
५३—हिस्ट्री आफ् धर्मशास्त्र —पी० वी० काणे ।
५४—हिस्ट्री आफ एन्टीक्विटी —मोक्ष डुङ्कर ।
५५—हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर —मैकडान्यल ।
५६—हिस्ट्री आफ एन्शिन्ट संस्कृत लिटरेचर—मोक्षमूलर
५७—हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर द्वितीय संस्करण—वेबर
५८—याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र —जेलर द्वारा सम्पादित, बर्लिन ।
५९—मिताक्षरा —एस० सी० विद्यारत्न द्वारा अनुवादित इलाहाबाद
६०—धर्मशास्त्र संग्रह —पण्डित जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सम्पादित, कलकत्ता
६१—गौतम धर्मशास्त्र —आनन्द आश्रम मुद्रणालय, पूना ।
६२—बौद्धायन धर्मशास्त्र —ई० हुसल, लिप्जिग ।
६३—आपस्तम्ब धर्मशास्त्र व्याख्या —चौखम्बा बनारस ।
६४—बृहस्पति स्मृति —गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज, बरोदा ।
६५—कार्पस इंसक्रिप्शनम् वाल्यूम १—हुल्श ।
६६—कार्पस इंसक्रिप्शनम् वाल्यूम ३—फ्लीट ।
६७—गुप्त इंस्क्रिप्शंस —गंगानाथ झा ।
६८—दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया प्रथम भाग—ई० जे० रैपसन ।

६९—दि अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया चतुर्थ संस्करण —बी० ए० स्मिथ।
७०—सल्यूशन आफ दि इण्डियन पालिटी —श्याम शास्त्री।
७१—हिन्दू ऐडमिनिस्ट्रेटिब इंस्टीट्यूशन्स —दीक्षितार।
७२—मौर्यन पालिटी —दीक्षितार।
७३—वार इन एन्शिण्ट इण्डिया —दीक्षितार।
७४—ऐहिस्ट्री आफ् हिन्दू पोलिटिकल थ्योरीज —यू० घोषाल।
७५—कारपोरेट लाइफ इन एन्शिण्ट इण्डिया —आर० सी० मजुमदार।
७६—सम एस्पेक्ट्स आफ् एन्शिंन्स्ट इण्डियन पालिटी के० बी० रंगास्वामी अयंगर।
७७—हिन्दू पोलिटिकल थ्योरीज —बान्धोपाध्याय।
७८—पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया —पी० एन० बनर्जी।
७९—एन्शिन्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन —एफ० पारजिटर।
८०—एस्पेक्ट्स आफ् इण्डियन पालिटी —एन० एन० ला।
८१—स्टडीज इन इण्डियन पालिटी —एन० एन० ला।
८२—ट्राइब्स इन एन्शिन्ट इण्डिया —एन० एन० ला।
८३—पोलिटिकल इन्सटीटयुशंस ऐण्ड थियरीज आफ् दि हिन्दूज बी० के० सरकार।
८४—हिन्दू पालिटी —के० पी० जायसवाल।
८५—थ्योरीज आफ् गवर्नमेन्ट इन एन्शिंट इण्डिया —बेणीप्रसाद।
८६—दि स्टेट इन इन्शिंट इण्डिया —बेणीप्रसाद।
८७—अशोक —आर० के० मुकर्जी।
८८—हिन्दू सिविलिज़ेशन —आर० के० मुकर्जी।
८९—लोकल गवर्नमेंन्ट इन एन्शिंट इण्डिया —आर० के० मुकर्जी।
९०—अशोक —डी० आर भण्डारकर।
९१—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति —ए० एस० अलतेकर।
९२—एस्पेक्ट्स आफ् दि सोशल ऐण्ड पोलटिकल सिस्टम आफ मनुस्मृति —के० बी० रंगा स्वामी।
९३—जनतंत्रवाद (रामायण और महाभारत कालीन) —श्यामलाल पाण्डेय।
९४—शुक्र कीं राजनीति —श्यामलाल पाण्डेय।
९५—एहिस्ट्री आफ् पोलिटिकल थ्योरीज —जी० एच० सेवाइन।
९६—पोलिटिकल थ्योरीज —डब्लू० ए० डनिंग।